

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180150

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1/M49D Accession No G.H. 25

Author मेहरोत्रा, वैकुण्ठनाथ ।

Title धरती और धुआँ । 1956

This book should be returned on or before the date last marked below

धरती और धुआँ

धरती और धुआँ

[कहानी-संग्रह]

लेखक

बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा

लखनऊ

दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड

१९५६

प्रथम संस्करण १९५६

१९५६, दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, लखनऊ

मुद्रक
प्रेम प्रेस
कटरा, प्रयाग

प्रिय त्रिलोकी,
योगी
तथा पाँचो बहिनों को--

अपनी बात

मेरा पहला कहानी संग्रह “मौन निमंत्रण” सन् १९४६ म प्रकाशित हुआ था ; और अब यह दूसरा है, लगभग दस वर्ष बाद । अभी हाल ही में मेरी रचनाओं का एक और भी संग्रह प्रकाशित हुआ है “ऊँचे : और ऊँचे” पर उसमें केवल लघु-कथाएं ही संगृहीत हैं, जो शिल्प की दृष्टि से लम्बी कहानियों से सर्वथा भिन्न हैं ।

“मौन निमंत्रण” और “धरती और धुआँ” को लगभग दस वर्ष का लम्बा समय पृथक करता है । इस बीच मैंने बहुत-सी कहानियाँ लिखीं ; और उन्हीं में से कुछ चुनी हुई ही इस संग्रह में संकलित हैं ।

समय की चर्चा में विशेष रूप से इसलिए और भी कर रहा हूँ क्योंकि कई कहानियों में उसकी छाप इतनी स्पष्ट है कि उनके सही मूल्यांकन के लिए इस तथ्य का स्पष्टीकरण बहुत आवश्यक है । “वह भी मुसलमान था” कहानी उस समय लिखी गई जब देश में साम्प्रदायिक विद्वेष विकराल रूप धारण किये हुए था । इसी प्रकार “शेख सलीम” की प्रेरणा कश्मीर समस्या से उस समय मिली जब वह अत्यन्त जटिल थी । वैसे जिन कहानियों का प्रधान तत्व मनोवैज्ञानिक यथार्थता अथवा चिरंतन सत्य होता है उनके लिए किसी भी प्रकार की भूमिका अपेक्षित नहीं है ; क्योंकि पाठक के हृदय और मस्तिष्क पर उनकी प्रतिक्रिया जैसी आज होगी ठीक वैसी ही कल, परसों और उसके बाद भी होगी ।

लिखने से पहले या उसके बाद मैंने अपनी किसी भी कहानी का विश्लेषण शिल्प के सिद्धान्तों के आधार पर कभी भी नहीं किया । कहानी की सफलता का मेरा तो सबसे बड़ा पैमाना यही है कि वह प्रभावोत्पादक हो और बिना

किसी भी प्रकार के आयास के, अत्यन्त सरलता से, पाठकों के मन को उसी गहराई तक छू ले जितना कि लेखक चाहता है।

इसी मूल्यांकन के लिए “धरती और धुआँ” पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

१७-बी०, मोतीलाल नेहरू रोड
इलाहाबाद
विजया वशमी, १९५६

बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा

विषय-सूची

१. खुशी की मौत	...	...	१
२. शेख सलीम	...	...	६
३. पत्थर के देवता	...	...	१६
४. दूसरी शादी	...	...	२६
५. वह भूखा था	...	...	३२
६. उर्मी	...	...	३६
७. मानता	...	...	४६
८. आपका रेस्तराँ	...	...	५६
९. दोषी कौन	...	...	६८
१०. वह भी मुसलमान था	...	...	७५
११. उलझन	...	...	८१
१२. नेता	...	...	८७
१३. चोरी के फूल	...	...	९४
१४. कैप्टेन वर्मा	...	...	१०२
१५. धरती और धुआँ	...	...	११०

खुशी की मौत

जुलाई का महीना कब्र में दफना दिया गया था। कोई दार्शनिक होता तो शायद उसे समय की इस प्रगति पर हर्ष न होता क्योंकि वह सोचता कि उसकी जिन्दगी का एक महीना कम हो गया। और शायद निस्सीम जीवन वाला समय भी एक क्षण को यही सोचता कि वह एक महीना और बूढ़ा हो गया है; उसकी लम्बी जिन्दगी का एक महीना और कम हो गया है। पर न तो मैं दार्शनिक था और न प्रकृति का बलवान प्रतीक समय ही। मैं तो केवल एक साधारण मनुष्य था जिसने जीवन में पहली बार कोई नौकरी की थी; जो केवल वर्तमान में रहते हुए भविष्य के सुनहले काल्पनिक सपने मात्र देखना जानता था। इस कारण अगस्त के उस दिन मुझे हृद से ज्यादा खुशी थी। और कदाचित् हर नौकरी पेशे वाले के हृदय में वैसी ही गदगद-भावना रहती होगी जैसी अगस्त के उस पहले दिन मेरे हृदय में थी। उस दिन मेरा वेतन मिलने वाला था; महीने भर के कठिन परिश्रम का मीठा फल मिलने वाला था। उस दिन मुझे एक ऐसा अनुभव होने वाला था जो जीवन में पहले कभी भी न हुआ था।

और जब मुझे अपना वेतन मिला तो मेरा मन बाँसों उछल पड़ा। खुशी आँखों में छलछला आई थी; अधरों पर मुस्करा-मुस्करा कर सारे

शरीर में समा सी गई थी। मुझे पहला वेतन मिला था; जिन्दगी का एक नया अनुभव हुआ था। नोटों के उस मोटे पुलिन्दे को सम्हाल कर जेब में रखने के बाद जब मैं ऊपर से नीचे उतर रहा था तो पैर सीधे न पड़ रहे थे। जी में आता था कि छलाँग मार कर दो-दो सीढ़ियों को एक-एक मान लूँ। और जब साइकिल उठा कर आवेश में सड़क पर निकला तो मेरे दूध से सफेद पेंट में चेन की कालिख लग गई। पर मुझे उस ओर ध्यान देने की फुर्सत ही न थी। और दिन होता तो शायद मैं कई मिनट खड़ा-खड़ा अपनी लापरवाही को धिक्कारता और साइकिल की उस गद्दी काली चेन को कोसता। जी भी उदास और भारी हो जाता। पर उस दिन मेरे लिए जैसे वह कोई बात ही नहीं हुई। उछल कर साइकिल पर बैठा तो गिरते-गिरते बचा। और जब पैडिल पर पैरों को बेतहाशा नचाता हुआ आगे बढ़ा तो एक-एक गज की मामूली दूरी एक-एक मील लम्बी लगने लगी। मेरे हृदय की सारी उमग पैरों में उतर आई थी और वे पैडिल से उलझ-उलझ कर लडखड़ा रहे थे। कहीं ब्रेक लगाना पड़ता तो हृदय की गति बन्द सी होने लगती। और उस दिन, उस साधारण सी भीड़ में भी, शायद बीसों बार ब्रेक लगाना पड़ा; बीसों बार सवारी, मोटर और आदमियों से टकराते-टकराते बचा। कई बार साइकिल से गिरते-गिरते भी बचा। पर मैंने उस सब की भी कोई परवाह न की। उस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। इसका एकमात्र कारण था मेरा उतावलापन। मेरी खुशी मेरे दिल में समाती ही न थी, और मैं उसे अपनी प्यारी पत्नी, नन्हें बच्चे, बूढ़ी माँ, स्नेही पिता और अल्हड़ भाई-बहिनो के बीच छलका देना चाहता था। और मन तो उस दिन जैसे बेलगाम हो गया था। वह मुझसे आगे-आगे, साइकिल से भी तेज, उन लोगों के बीच पहुँच गया था। मैं सोच रहा था..... माँ के हाथों में जब मैं नोटों का पुलिन्दा दूँगा तो उनकी आँखों में लबलबाई खुशी इठला-इठला कर गालों पर दुलक पड़ेगी... वे दुलार से मेरे मस्तक पर हाथ फेरेंगी... पिताजी की छाती अभिमान से फूल कर दूनी हो उठेगी कि उनका बेटा पहली बार कमा कर

लाया है... पत्नी कनखियों से देख-देख कर मुस्कराहट भरी मूक भाषा में कहेगी—‘मुझे भूल न जाना, स्वामी!... मुझे तुम पर अभिमान है...’ बच्चा अपनी प्यारी-प्यारी तोतली बोली में चिल्ला-चिल्ला कर नाचा-नाचा फिरेगा—‘पापाजी रुपया लाये है... हमारे पापाजी रुपया लाये है...’ दादी उसको गोद में उठाकर चूम लेगी... अल्हड भाई-बहन मुस्करा-मुस्करा कर कहेंगे—‘आज तो बड़ी दावत होनी चाहिए, भाई साहब!...’ और तब माँ मेरी मुट्ठियों में नोटों का पुलिन्दा ठूसती हुई बड़े प्यार से कहेंगी—‘अच्छा चलो! अब कपड़े बदल कर हाथ-मुह धो और नाश्ता करो...’ सब के चेहरों पर खुशी नाच रही होगी... ओफ! खुशी के मारे मेरा क्या हाल होगा... पत्नी अकेले में मिलेगी तो मैं धीरे से कहूँगा—‘ये लो गृहस्वामिनी! मेरी तुच्छ भेट... मेरी अपनी तुच्छ भेट...’ और वह, सकुचाकर, खिलखिला उठेगी.... ओफ! वह क्षण कितना सुखद होगा.....

पर घर पहुँचते ही मेरी उछलती खुशी पछाड़ खा कर गिर पड़ी; एकदम चकनाचूर हो गई। कोई भी मेरे स्वागत में बाहें फैलाये उतावला न था। पिता जी के हृदय में भी अवश्य ही एक दिन वैसी ही उमंगें उठी होंगी; पर वे सब शायद उनकी वयस के साथ ही शिथिल हो चुकी थी। साधारण स्वर में उन्होंने बस इतना ही पूछा, “आज तो वेतन मिला होगा, शेखर?” और मैंने संक्षिप्त सा, “जी, हाँ!” कह दिया। साहस न हुआ कि नोटों का पुलिन्दा आतुरता से उनके हाथों में रख दूँ। माँ ने वेतन की चर्चा अवश्य की पर जितना मैंने सोचा था उतने दुलार से नहीं। पत्नी ने कनखियों से मुस्कराया अवश्य पर वह रोज की सी ही साधारण मुस्कान थी। उसमें उस अभिमान, गर्व और सतोष की एक क्षीण रेखा मात्र थी जिसे मैं छलकता हुआ देखना चाहता था। उन सब के जीवन में नित्य का ही साधारण क्रम था। उनकी जिन्दगी उसी प्रकार रेंगती चल रही थी जैसे नित्य चला करती थी। उसमें कोई असाधारण हलचल न थी। बच्चा, एक क्षण, मुझे देखकर प्रसन्न अवश्य हुआ, पर

फिर अपने खेलकूद में व्यस्त हो गया। उसे मेरे नोटों के पुलिन्दे की परवाह न थी। भाई-बहनों ने चारों ओर से घरा अवश्य, पर उनके आग्रह में कोई उन्माद न था; उतावलापन न था। मुझे जिस उत्तेजना ने पागल सा बना रक्खा था, वह उनके लिए कोई विशेष महत्व न रखती थी।

हतबुद्धि सा मैं क्षण भर सोचता रहा, 'क्या करूँ... किसको नोटों का पुलिन्दा दूँ?'

तभी माँ फिर सामने से निकलीं। मैंने मुर्दा हाथों से पुलिन्दा उनकी ओर बढ़ा दिया। बगल में खड़ी पत्नी के नेत्रों की मुस्कराहट सहसा विलुप्त हो गई। खुशी के आँसुओं के स्थान पर वेदना के आँसू छलछला आये। समीप में बैठे पिता जी को कुछ बुरा सा लगा कि मैंने उनकी अवहेलना क्यों की। भाई-बहन पहले अपना भाग चाहते थे, इस कारण उनके चेहरे उतर गये। और तभी माँ ने भी स्वर में उदासीनता भर कर कहा, "अरे शेखर!... रख ले न इसे... मैं इसका क्या करूँगी"

मेरा दिल बैठ गया। खुशी की मौत हो गई। वेदना से काँपते हाथों में नोटों का पुलिन्दा लिए जब मैं अपने कमरे में आया तो पत्नी की आँखों में उपेक्षा थी। सान्त्वना और सहानुभूति पाने के लिए मैंने उसके प्रेम में आश्रय ढूँढ़ना चाहा पर वह तुनक कर बाहर जाती हुई बोली, "हर जगह से ठुकराये जाने के बाद, अब आई है मेरी याद... मैं क्या करूँगी आपके इन नोटों का।"

मैं झुँझला पड़ा। व्यथा की पीड़ा से सिहर उठा; और नोटों का पुलिन्दा, सामने मेज पर, पटक दिया।

उस रात मुझे ठीक से नीद न आई। पड़ा-पड़ा सोचता रहा कि आखिर इसमें मेरा क्या दोष था। जिस चीज से मैं सबको खुश करना चाहता था उसी ने सबको मेरा विरोधी बना दिया। माँ नाराज थी कि मैंने नोटों का बंडल उन्हें इतना सोच-विचार कर क्यों दिया। पिता जी समझे कि मैंने उनकी अवहेलना की। पत्नी रूठी थी इसलिए कि मैंने

कुछ नोट सबसे पहले उसको क्यों न दिये। भाई-बहनों ने समझा कि मैं स्वार्थी हो गया था। पर किसी ने भी मेरे हृदय की थाह न लेनी चाही।

दूसरे दिन भी किसी ने मुझसे सीधे मुह बात न की। खिन्न मन से आफिस जाते समय मैंने देखा कि नोटों का पुलिन्दा उसी प्रकार मेज पर उपेक्षित पड़ा था।

शेख सलीम

काश्मीर और पाकिस्तान की सीमा के समीप, शान्त तथा रमणीक पहाड़ों की तलहटी में बसा वह गाँव काफी बड़ा, समृद्ध और महत्वपूर्ण था। समृद्ध था इसलिए कि वहाँ, हर हफ्ते, एक बहुत बड़ा बाजार लगा करता था, जिसमें दूर-दूर के सौदागर अपना सामान लाते थे। और महत्वपूर्ण था राजनीतिक दृष्टि से; क्योंकि वह सरहद के बहुत पास था।

वहाँ के बुजुर्गों में सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति था, शेख सलीम। वह एक तरह से गाँव का मुखिया भी था। वैसे तो गाँव में बहुत से, उम्र में उससे बड़े, लोग पड़े-पड़े मौत की घड़ियाँ गिन रहे थे, पर सम्मान उसका ही सबसे अधिक था। हर मामले में वही अगुआ रहता और गाँव का प्रतिनिधित्व करता। सारा गाँव उसको अत्यन्त आदर और सम्मान की दृष्टि से देखता और उसकी बात मानने को सदा तत्पर रहता। वैसे तो वह दयालु, विनोदप्रिय और उदार विचारों का था पर यदि अनुशासन के विरुद्ध कोई भी बात होनी तो उसके क्रोध का पारावार न रहता।

और जब से कबायिलियों पर पाकिस्तान का आक्रमण आरम्भ हुआ तब से तो वह गाँव एक युद्ध-शिविर में परिणत हो गया। आक्रमणकारी सहधर्मी थे इसलिए आरम्भ में कुछ अड़चन तो जरूर हुई पर शेख सलीम

ने थोड़े ही समय में स्थिति पर पूरी तौर से काबू पा लिया। एक दिन उसने पूरे गाँव की एक सभा बलाई और बड़े जोश के साथ भाषण देते हुए कहा, “.....जब तक इस गाँव का एक भी मर्द जीता रहे, इस पर दुश्मन के नापाक कदम नहीं पड़ने चाहिए.. मैं जीते जी आप लोगों की रहनुमाई करूँगा...और अगर इस पाक काम में मैं काम भी आजाऊँ तो आप लोगों को मायूस होने की जरूरत नहीं.. आप में से हर एक सरदार होने की काबलियत रखता है...मगर याद रखिये... हमारा गाँव सरहद का काफी खास मुकाम है... दुश्मन इस पर बार-बार हमला करेगा.. इसे हर तरह से फतह करने की कोशिश करेगा.. पर खबरदार! हमें अहद करना होगा कि हमारे जीते जी वे सरहद के इस पार न उतर पायेंगे... हम अपने वतन की हिफाजत करेंगे... चाहे जो भी कीमत इसके लिए देनी पड़े.....”

कहते-कहते वह जोश से तमतमा उठा। बूढ़ी उम्र का आदमी, उस समय जवानों को भी मात कर रहा था। सारे मजमे ने उसकी हामी भरी और जोर-जोर से तालियाँ बजाईं। थोड़ा रुक कर उसने फिर कहना शुरू किया, “और याद रखिए... इस वस्तु हमारा कोई मजहब नहीं है.. मुल्क.. या यों कहिए वतन-परस्ती ही हमारा मजहब है... मैं जानता हूँ.. हमलावर भी मुसलमान हैं और हममें से भी ज्यादातर मुसलमान ही हैं.. पर क्या वे सच्चे मुसलमान हैं जो बिना बात अमन-पसन्द पड़ोसियों पर हमला करते हैं... क्या वे दरअसल कुरान-शरीफ की बताई हुई राह पर चल रहे हैं?.. यह गौर करने की बात है... और, वे तो हर तरह से हमें जीतने की कोशिश करेंगे...लालच भी दे सकते हैं.. पर आप लोग इससे खबरदार रहियेगा... हम लोग... हिन्दू और मुसलमान दोनों ही तो पुश्तों से साथ-साथ रहते चले आ रहे हैं.. कभी तो कोई झगडा-फसाद न हुआ.. न आपस में कभी कोई फर्क ही मालूम हुआ... आज ये लुटेरे हमलावर हमसे मजहब के नाम पर वतन फरोस्त करने को कहते हैं.. मजहब के नाम पर जहर फैला रहे हैं... खबरदार!... उनकी इस चाल में

कोई भी न फंसे; नहीं तो फिर मुझसे बुरा कोई न होगा....”

कहते-कहते बूढ़ा आवेश में काँपने सा लगा। लोग एक स्वर में चिल्ला उठे, “हम जान दे देंगे, पर वतन में दुश्मनों को न घुसने देंगे.. हम अहद करते हैं .. आपकी रहनुमाई में जी जान से लड़ेंगे..,”

चारों ओर जांश-भरी आवाजे सुनकर शेख सलीम की छाती अभिमान और गर्व से दुनी हो गई। उसकी आँखों में खुशी के आँसू छलछला आये।

और फिर, धीरे-धीरे उसने गाँव वालों को फौजी ढंग पर तैयार करना शुरू किया। करीब-करीब हर जिम्मेदार आदमी को एक-एक बन्दूक दे दी गई। रोज शेख सलीम गाँव के नौजवानों को कवायद करवाता और इसमें उसका इकलौता बेटा गफूर उसका बहुत हाथ बंटाता। वह गफूर को अपने प्राणों से अधिक चाहता था; क्योंकि वही उसके बुढ़ापे का सहारा था; उसके खानदान का चिराग था। और गफूर ने भी बाप के काम में ऐसा हाथ बटाय़ा कि वह निहाल हो गया।

कई बार दुश्मनों ने उनके गाँव पर आक्रमण करने की चेष्टा की, पर शेख सलीम के नेतृत्व में गाँव वाले ने उनके दाँत खट्टे कर दिए; और इस तरह उन्हें उल्टे मुह की खानी पड़ी।

इसके बाद, बहुत दिनों तक, सरहद के उस हिस्से पर निगाह उठाने का दुश्मनों का साहस न हुआ; और वातावरण शान्त सा रहा। एक दिन गाँव में एक फकीर आया; और माँगते-माँगते शेख सलीम के दरवाजे पर भी पहुँच गया। बूढ़ा शेख एकदम सतर्क हो गया और उसने सशक्त स्वर में उससे प्रश्न किया, “कौन हो तुम?”

“जानते और देखते हुए भी आप ऐसा सवाल एक फकीर से क्यों करते हैं... हम खुदा के बन्दे हैं... दरवेश हैं... और कौन हैं!...” उसने अत्यन्त सयत स्वर में उत्तर दिया। पर शेख सलीम के बाल धूप में सफेद नहीं हुए थे। वह दुनियाँ देखे हुए थे। अतः फकीर की बात से उसे सतोष न हुआ और उसने पुनः उसी प्रकार कड़े स्वर में कहा—

“क्यों नहीं... आज कल लड़ाई के दिन हैं... हो सकता है तुम

खुफिया तौर पर दुश्मन की कार्यवाही कर रहे हो....”

“खुदा!...खुदा!!...कैसी बातें करते हो, शेख!...मैं नज़मी हूँ...खुदा की इबादत करता हूँ...मुझे इन सब लड़ाई-झगड़ों से क्या मतलब...”

खैर, अधिक बातें नहीं हुई और फकीर आगे बढ़ गया। धीरे-धीरे गाँव के एक छोर पर उसने अपना अड्डा जमा लिया। हर रोज वह भोले-भाले गाँव वालों के हाथ देखता और उन्हें तरह-तरह की बातें बतलाता। उसकी बताई हुई जो दो-चार बातें सयोग से सही निकल गईं उन्होंने उसका मान बढ़ाया; और अधिकांश जो झूठी निकली उनके लिए किस्मत दोषी मान ली गई। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने इतनी धाक जमा ली कि गाँव वालों ने उसके लिए एक छोटी सी कुटिया बना दी और उसी में वह आराम से रहने लगा। वह ऐसी चालाकी से बातें करता कि थोड़े दिनों के बाद शेख सलीम ने भी उसके ऊपर सन्देह करना छोड़ दिया और उसे एक पहुँचा हुआ नज़मी समझने लगा।

पर जिस लिए वह वहाँ आया था वह काम वह चुपके-चुपके करता रहा। उसे गाँव वालों की एकता को तोड़ना था; उनमें मजहब के नाम पर जहर फैलाना था, और इसके लिए उसने गफूर को ही उपयुक्त पात्र समझा। गफूर करीब-करीब रोज ही कुछ न कुछ पूछने उसके पास जाया करता, और वह तरह-तरह की बातें बता कर उसे अपने चंगुल में फासता जाता। एक दिन जब वह अपना हाथ दिखाने उसके पास गया तो उसने उसकी हथेली को बड़े ध्यान से देखते हुए कहा—

“मैं देख रहा हूँ...शेख गफूर!...कि तुम्हारे हाथ में बादशाहत लिखी है...यह देखो...तुम्हारे हाथ की यह लाइन कितनी दूर तक सीधी चली गई है...लगता है खुदा तुम्हें बहुत दिनों तक तख्त पर बैठा-येगा....”

उसके गंभीर स्वर तथा आँखों की चमक ने गफूर की उत्सुकता बेहद बढ़ा दी। उसने सतृष्ण नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए बड़े

ही आश्चर्य भरे स्वर में पूछा—

“सच कहते हैं, आप ?”

“शक करते हो, शेख !... क्या मेरा नज़ूम कभी गलत भी होता है ?” फकीर उसी प्रकार गंभीर स्वर में कहता गया, “पर हाँ !... एक बात अच्छी तरह से ख्याल रखना... इस बात को बहुत ही पोशीदा रखना... किसी से भी इसका जिक्र न करना... नहीं तो सारी बनती हुई बात बिगड़ जायेगी...”

और इस प्रकार गफूर की उत्सुकता बढ़ाकर वह कुछ दिनों के लिए उससे उदासोन् हो गया। उस विषय पर फिर कोई बात ही न की। पर उसी दिन से गफूर की अजब हालत होने लगी। जैसा फकीर ने कहा था, उसने बात किसी से बताई नहीं और मन ही मन बादशाहत के सपने देखने लगा। नज़ूमी के प्रति उसकी श्रद्धा दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गई।

कुछ दिनों के बाद जब उससे न रहा गया तो उसने फिर फकीर के सामने उसी बात की चर्चा चलानी चाही। फकीर तो ऐसे अवसर की ताक में था ही। उसने अत्यन्त गंभीर मुद्रा बनाकर कहा,

“क्या तुमने कभी सोचा है, शेख !... कि तुम किस तरह बादशाह बन सकते हो ?... मैंने अपने नज़ूम से सब कुछ पता चला लिया है... तुम्हें सुनकर ताज्जुब तो जरूर होगा पर तुम्हारी तकदीर में पाकिस्तान की बादशाहत लिखी है... और यह हो कर ही रहेगा... तुम तो जानते ही हो कि मेरा नज़ूम आज तक कभी भी गलत नहीं हुआ है...” इतना कहकर वह एकाएक चुप हो गया और गफूर की ओर बड़े ध्यान से देखने लगा। तभी गफूर ने आश्चर्य भरे स्वर में पूछा—

“पाकिस्तान का बादशाह !... पर वह मुल्क तो हमारा दुश्मन है.. ?”

“हाँ शेख !... पाकिस्तान के बादशाह.. तुम्हारी तकदीर में यही लिखा है... और तुम्हारा यह सोचना कि पाकिस्तान तुम लोगों का दुश्मन है.. बिल्कुल गलत है... तुम भी मुसलमान हो और वे भी मुसलमान

फिर दुश्मनी कैसी... भाई-चारा ही जिस मजहब की बुनियाद है उस पर दुश्मनी का शक करना बहुत ही नापाक ख्याल है .. तुम सच्चे मुसलमान हो... ऐसा तो तुम्हें ख्वाब में भी न सोचना चाहिए ..” फकीर ने उसे समझाते हुए कहा।

“पर ऐसा कैसे हो सकता है... मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आता. ” उसने उसी प्रकार आश्चर्य भरे स्वर में प्रश्न किया।

“होगा.. और जरूर होगा... और मैं यह भी जानता हूँ कि यह सब कैसे होगा... सबसे पहले तुम्हें पाकिस्तान से हमदर्दी दिखानी होगी . उसके सामने दोस्ती का हाथ बढ़ाना होगा... और इसके लिए यह बहुत जरूरी है कि तुम अपने अब्बा के काफिराने-चगुल से बाहर निकलो. . फिर देखना.. खुदा के फजल से.. किस तरह सब कुछ आप ही आप हो जाता है....”

इतनी बात कहकर उसने फिर पहले वाली चाल चली और कुछ दिनों तक उस विषय की कोई चर्चा न की। वह गफूर के हृदय में हलचल मचा कर और फिर उस दिशा में अपनी निर्लिप्तता दिखा कर, उसकी आकांक्षा को और भी अधिक प्रज्वलित करना चाहता था। पहले इसी युक्ति से उसे सफलता मिली थी; अतः उसी का प्रयोग उसने फिर किया।

और वास्तव में, धीरे-धीरे गफूर की मनोदशा बदलने लगी। दिन-रात बादशाहत के सपने ही उसकी आँखों के आगे नाचा करने; और इस तरह वह पूरी तौर से उस फकीर के चगुल में फस गया। अपने पिता की बातें अब उसे जहर सी लगनी; पर वह कभी भी अपने मन की बात जुबान तक न लाता। बस चुपचाप लोगों को अपने पिता के विरुद्ध और साथ ही साथ पाकिस्तान के पक्ष में भड़काता रहा। उसका मूल अस्त्र धर्म की दुहाई था जिसके आधार पर सफलता प्राप्त करने में कोई विशेष कठिनाई न हुई।

धीरे-धीरे कुछ लोग उसके पक्ष में आने लगे। पर यह सब इतने

छुपे तौर पर होता रहा कि शेख सलीम के मन में सन्देह उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही न था।

और एक दिन उपयुक्त अवसर देख कर उस फकीर ने फिर अपनी चाल चली। गफूर को एकान्त में ले जाकर बड़े ही गोपनीय ढंग से कहा, “गफूर मियाँ!... मेरा नज़ूम कहता है कि अब तुम्हारा सितारा बहुत जल्द ही बुलन्द होने वाला है... इसलिए अगर मेरी बताई हुई एक तरकीब पर अमल करने को तैयार हो तो उसे तुम्हें बताऊँ... आज मुझे इलहाम हुआ है; और वही एक ऐसी तरकीब है जो तुम्हें पूरी तरह कामयाबी दिला सकती है...” “क्यों नहीं मानूँगा... आप हुक्म तो दीजिए” गफूर ने अत्यन्त दीनता भरे स्वर में उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने की चेष्टा की। “तो गौर से सुनो, शेख!..” फकीर ने आत्मीयता भरे स्वर में कहना प्रारम्भ किया, “अपने अब्बा को यह मुझाव दो कि गाँव भर की सब बन्दूकें और कारतूस अपने घर में रखवा ले... अबो तो हमले का कोई खास डर है नहीं, इसलिए कह देना कि इस बीच में अगर हथियारों की सफाई करवा ली जाय तो अच्छा रहेगा... यह बहाना जरूर कामयाब होगा इसका मैं यकीन दिलाता हूँ... ऐसा करने के बाद फिर, एक दिन, सारे हथियार ले कर, चुपचाप, सरहद पार कर जाना... और फिर वहाँ पहुँच कर देखना कि पाकिस्तान वाले तुम्हे देखकर कितना खुश होते हैं... वे, एवज में, तुम्हें बड़े-बड़े ओहदे देंगे... और इसी तरह बढ़ते-बढ़ते तुम, एक दिन, वहाँ के बादशाह भी बन जाओगे... पर देखो!... घबराना जरा भी मत... तुम सब कुछ अपने मजहब की खातिर करोगे; इसलिए खुदा तुम पर बहुत खुश होगा... और फिर... मैं भी तो तुम्हारे साथ रहूँगा... वहाँ पहुँच कर तुम्हारा सारा इन्तजाम ठीक करवा दूँगा...” इतना कहकर उसने प्रश्न भरी मुद्रा में गफूर की ओर देखा।

सहसा गफूर का आँखें चमक उठी और उसने आसमान की ओर दोनों हाथ फैलाते हुए अत्यन्त उत्तेजित स्वर में कहा, “जब खुदा की

यही मरजी है तो मैं ऐसा ही करूँगा... मुझे आप जैसे खुदा के बन्दे पर पूरा भरोसा है।”

गफूर की बात सुनकर फकीर के होठों पर हलकी सी मुस्कान नाच गई। उसने समझ लिया कि वह अच्छी तरह से उसके चंगुल में फस चुका था।

और फिर गफूर ने, चिकनी-चुपड़ी बातें बनाकर एक दिन अपने पिता को इस बात पर राजी कर लिया कि गाँव भर की सारी बन्दूकों और कारतूस उसी के मकान पर मगाकर रख लिये जायें। भोले और सच्चे शेख सलीम ने यही समझा कि उसका बेटा जो कुछ कह रहा था वह वतन की हिफाजत के लिए ही था।

इसके बाद धीरे-धीरे, उस फकीर ने गफूर से मंत्रणा करके सारी बातें तय कर लीं, और वे लोग अपनी योजना को कार्यान्वित करने का अवसर ढूँढने लगे।

कुछ दिनों के बाद, एक दिन बहुत रात गए चार पाँच आदमियों को साथ लेकर वह फकीर चोरी-चोरी शेख सलीम के घर पहुँच गया। गफूर पहले से ही तैयार था। उसने, योजना के अनुसार उन सबों को चुपचाप पिछवाड़े की एक छोटी सी कोठरी में छुपा लिया। इस कोठरी में उसने पहले से ही सारी बन्दूकें और कारतूस जमा करके रख ली थीं। कोठरी के बाहर ही, अंधेरे में, दस तेज घोड़े कसे हुए तैयार खड़े थे।

रात के सत्राटे में खटपट की आवाज और कानाफूसी सुनकर शेख सलीम की नींद सहसा उचट गई। उसे फौरन शक हो गया। और वह अपनी बन्दूक भर कर, चुपचाप पिछवाड़े की ओर बढ़ा। उसे पूरा सन्देह हो गया था कि कुछ गड़बड़ अवश्य है इसलिए उसने जोर से चिल्ला कर पुकारा,

“गफूर!...ओ गफूर!!.. जल्दी आना.. पिछवाड़े कुछ गड़बड़ लग रहा है।”

उसका स्वर सुनते ही षण्यंत्रकारी सहसा चौंके, पर दूसरे ही क्षण सतर्क हो गए। गफूर पहले तो कुछ घबराया पर फिर, सम्हलते हुए, बहुत ही धामे स्वर में बोला—

“अब्बा !. एक कदम भी आगे न बढ़ाना, वरना गोली मार दूंगा.. अब मुझे तुम जैसे काफिर का बेटा कहलाने में शर्म आती है... मैं पाकिस्तान जा रहा हूँ... वहीं मेरा मुल्क है... मेरा वतन है....”

गफूर की बात सुनकर, क्षण भर को, शेख सलीम सन्न रह गया। एक क्षण तो वह अपने कानों पर विश्वास न कर सका। उसे लगा जैसे वह कोई भयानक सपना देख रहा हो; पर दूसरे ही क्षण वह सतर्क हो गया। क्रोध और घृणा से उसका खून खौलने लगा। उसका इकलौता बेटा उससे इस तरह की बात कह रहा था यह उसे बिल्कुल ही बरदाश्त न हो सका। उसके खानदान का चिराग उसी के सिद्धान्तों की विपक्षता करता हुआ उसे अपना शत्रु कह रहा था, इससे उसे भारी धक्का लगा, पर, साथ ही, क्रोध भी बहुत आया। उसने तुरन्त ही अपनी बन्दूक तान ली और कोठरी में टार्च की रोशनी फेंक कर देखा कि गफूर उस फकीर तथा पाँच अन्य व्यक्तियों के साथ घोड़ों पर बन्दूकें लाद रहा था। सहसा सारा षड्यंत्र उसकी समझ में आ गया; और उसका सारा शरीर क्रोध से काँपने लगा। तभी उसने काँपती आवाज में चिल्ला कर कहा—

“खबरदार !.. एक कदम भी आगे बढ़ाया तो फौरन गोली मार दूंगा.. गद्दार कहीं के... शैतान !!... तू इस जासूस की बातों में आ कर वतन फरोशी कर रहा है... तू मेरा बेटा नहीं है... हर्गिज नहीं..” वह आगे कुछ और भी कहने जा रहा था कि तभी एक गोली, सन् से, उसके बिल्कुल पास से निकल गई। वह क्रोध से बौखला सा उठा और बन्दूक तानकर उमी प्रकार उत्तेजित स्वर में फिर चिल्लाया, “मुझे मजबूर मत कर.. गफूर.. वरना मैं अभी बन्दूक का घोड़ा दबा दूंगा... गद्दार कहीं का... नालायक ...”

उत्तर में गफूर व्यंग भरे स्वर में झल्ला कर बोला,

“अरे काफिर!... बकबास बन्द कर... वरना....”

उसका वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि शेख सलीम ने उसकी आवाज से अन्दाज लगा कर अंधेरे में गोली चला दी। दूसरे ही क्षण एक तेज चीख के साथ गफूर जमीन पर गिर पड़ा। इधर बन्दूक का धड़ाका सुनकर हथियारों से लदे घोड़े, तितर-बितर हो कर इधर-उधर भागने लगे। तब तक लगभग सारा गांव शेख सलीम के घर के सामने जमा हो चुका था। सभी चकित और उत्तेजित थे। मिनटों में फकीर और उसके साथियों को घेर लिया गया।

चारों ओर मशाले ही मशाले जल उठी थी। शेख सलीम ने पिछवाड़े की कोठरी के सामने जा कर देखा कि गफूर की लाश खून से लथपथ पड़ी थी। तभी भीड़ में से एक आदमी घबराये हुए स्वर में चिल्ला उठा, “अरे... यह क्या... गफूर मियाँ के तो गोली लग गई...”

“हाँ!... इस गद्दार कुत्ते को मैंने ही अपने हाथों से गोली मारी है... वह मेरा बेटा नहीं... वतन-फरोश था...” शेख सलीम ने अत्यन्त उपेक्षा से घृणा मिश्रित स्वर में कहा; और उसका सारा शरीर एक बार फिर क्रोध से काँप उठा। सामने ही वह फकीर और उसके पाँचो साथी कैदों बने खड़े थे। शेख सलीम ने बन्दूक उठाई और पारी-पारी से उन सबको गोली का निशाना बना दिया। हक्के-बक्के गांव वाले उसके मुह की ओर ताकते रह गये।

पत्थर के देवता

शेषधर के विवाह की बात तो बहुत दिनों से चल रही थी पर उसके नौकरी पाते ही सारा घर उसके सर हो गया। खास तौर से माँ ने तो घर में उसका उठना बैठना मुश्किल कर दिया। जब देखो तब वही शादी-विवाह की बात, वही पोती-पोतों को खिलाने की कल्पना। शेषधर की नाक में दम हो गया। जब कभी ऐसी बातें शुरू हो जातीं तो वह, कन्ना काट कर चुपके से बाहर खिसक जाता। सवाल उसके हामी भरने का था, और जहाँ तक भी और जिस प्रकार भी हो सकता था वह उस प्रश्न को टालते रहना चाहता था।

यह बात नहीं कि शादी करने में उसको आपत्ति थी, या उसके मन में कोमल भावनायें उठती ही न थीं, फिर भी, जब कभी वह जीवन के इस पहलू पर विचार करता तो उसका मन यही कहता कि उसे शादी नहीं करनी चाहिए। उसके सर पर एक पूरे परिवार की जिम्मेदारी थी—माँ, बाप, दो छोटे भाई और तीन बहनें। बाप ने लगभग पन्द्रह साल तक, साझेदार की हैसियत से, एक बिसातखाने की दूकान चलाई, पर बाद में, आपसी मतभेद के कारण, अपना हिस्सा लेकर अलग हो गए। इसके बाद न तो वे कोई काम ही पा सके और न अपना स्वतंत्र व्यापार

ही कर सके। काफी धन जमा किया था पर जब खर्च के साथ आमदनी का कोई जरिया ही न रहा तो उनकी आर्थिक दशा धीरे-धीरे गिरने लगी।

शेपथर के सर पर इतने बड़े परिवार का भार था और आमदनी गिरक एक सौ अस्सी रुपये महीना। पिता सचिवा पूंजी के बल पर ही बर चला रहे थे इसलिए उसको अपने कार्य का भार और भी अधिक बोझिल लगता। विवाह करके परिवार में एक नए प्राणी को बढ़ाने की कल्पना वह किसी भी स्थिति में न कर पाता। खास करके जब वह जानता और समझता था कि वैसा करने से सुख के स्थान पर परिवार में कलह बढ़ने की सम्भावना ही अधिक थी।

पर सब कुछ होते हुए भी शेपथर का अपने इस संकल्प पर बहुत दिनों तक दृढ़ रहना मुश्किल हो गया। एक दिन दफ्तर से लौटा ही था कि देखा पिता जी बैठक में बैठे किसी से बात कर रहे हैं। पीछे के द्वार से अन्दर आँगन में घुसा ही था कि गोपाल ने घेर लिया,

“जानते हैं बड़े भइया! — पिता जी से मिलने कौन आये हैं?”

“कौन है रे! — तू इतनी उछल कूद क्यों मचाये है?”

“अभी पता चल जायगा—जरा अम्मा के पास तो चलिए” गोपाल ने उसका हाथ पकड़ कर घसीटते हुए मुस्करा कर कहा। तभी दालान से आँगन में आती हुई अम्मा बोलीं, “देखो बेटा! अब कुछ आना-कानी न करना—तुम्हारे पिता जी ने वचन दे दिया है”

“वचन दे दिया है! — अरे, कुछ बात भी बताओगी या इसी तरह पहेली बुझाती रहोगी” शेपथर ने कुछ समझते हुए और कुछ न समझते हुए अचकचा कर पूछा।

अम्मा ने मुस्कराकर कहा, “तुम्हारी शादी के लिए घटो से आकर बैठे हैं—तुम्हारे पिता जी लडकी देखने के लिए राजी हो गए हैं—हम लोग तुम्हारी ही राह देख रहे थे— अब हाथ मुह धो कर जल्दी से कपड़े बदल लो और अपने पिता जी के साथ जाने के लिए तैयार हो जाओ”

“कहाँ?” शेषधर ने परास्त स्वर में धीरे से पूछा।

“भाभी जी को पसन्द करने—और कहाँ” गोपाल तालियाँ पीट-पीट कर खिलखिला पड़ा।

शेषधर एकाएक हक्का-बक्का रह गया। उसकी कुछ समझ में ही न आया कि ऐसी स्थिति में क्या करे और क्या न करे। अन्त में उसे परिस्थितियों के आगे माथा टेकना ही पड़ा। न चाहते हुए भी, उस शाम, घर वालों के साथ लड़की देखने जाना ही पड़ा।

घर वालों ने पता नहीं क्या-क्या देखा और सोचा पर शेषधर ने एक झलक में ही अपना मत निश्चित कर लिया।

शिष्टाचार की बातें हो चुकने के बाद अन्नपूर्णा के पिता ने शेषधर के पिता को सम्बोधित करके बड़े ही विनीत स्वर में कहा, “यदि आज्ञा हो तो मैं आज ही शगुन भी दे दूँ?”

“अरे, इसकी क्या जल्दी है—यह तो बाद में हो ही जायगा”

“आपका यह आश्वासन मेरे सिर-माथे है—पर फिर भी मैं लड़की वाला हूँ—” अन्नपूर्णा के पिता के स्वर की दीनता और भी अधिक उभर आई।

इसके बाद शेषधर के माता-पिता में थोड़ी देर तक परामर्श हुआ, और फिर शगुन लेकर वे सब घर वापस लौट आये।

विवाह का प्रश्न शेषधर के लिए एक बहुत जटिल समस्या थी, पर जब उसका समाधान इस नाटकीय ढंग से हो गया, तो उसने, परिस्थितियों को स्वीकार करके, उसके विषय में चिन्ता करना ही छोड़ दिया। इस प्रकार निश्चिन्त होकर वह फिर अपने काम में लग गया और दिन पर दिन बीतते गये।

कुछ समय के बाद, एक दिन, जब उससे फिर कहा गया कि लड़की देखने जाना है तो वह इस प्रकार चौंका जैसे बिजली का नगा तार छू लिया हो।

“कैसी लड़की!! अब लड़की में क्या देखना है?” उसने

शंकित स्वर में प्रश्न किया।

माँ ने हँसते उत्तर दिया, 'अरे पगले ! वह लड़की नहीं, एक दूसरी लड़की देखनी है।'

"पर वहाँ तो बात पक्की हो चुकी है—अब दूसरी लड़की देखने का सवाल ही कैसे उठ सकता है" उसने उमी प्रकार आश्चर्य भरे स्वर में फिर कहा।

"सवाल कैसे नहीं उठ सकता" माँ ने जरा त्योरी चढ़ाकर कहा, "तुम बड़े हुज्जती होते जा रहे हो—बात पक्की हो गई तो क्या हुआ—अभी शादी तो नहीं हुई"

शेषधर का माँ बाप से अधिक बोलने या तर्क करने का स्वभाव न था फिर भी न जाने क्यों उस परिस्थिति में वह अपनी जबान पर लगाम न लगा सका, और चट ही दूसरा प्रश्न कर बैठा, "मगर क्यों ?—कोई कारण भी तो होना चाहिए।"

"कारण नहीं तो क्या मैं पागल हूँ जो इस तरह की बात कर रही हूँ—मैंने भी कुछ सोच समझ कर ही कहा है—अन्नपूर्णा के माँ बाप पूरे कगाल हैं—मुझे ऐसे कगालों के घर शादी नहीं करनी है—तुम्हारे पिता जी एक दूसरी जगह बात-चीत चला रहे हैं—लड़की अन्नपूर्णा से ज्यादा पढ़ी-लिखी और सुन्दर है—और फिर वे लोग दहेज में भी बहुत अधिक देने को तैयार हैं।"

माँ की बात सुनकर उसका चेहरा क्रोध और घृणा से तमतमा उठा, और वह, बिना कुछ कहे उठकर बाहर जाने लगा। तभी माँ ने जरा ऊँचे पर उसी तरह तीखे स्वर में फिर कहा, "चले कहाँ ?—तुम्हें तै करके इसी समय इसका उत्तर देना है—शाम को शायद लड़की देखने जाना पड़ेगा—तुम्हारे पिता जी उनको वचन दे चुके हैं।"

"वचन तो अन्नपूर्णा के पिता को भी दे चुके हैं" उसने लौटकर माँ के पास वापस आते हुए झल्लाकर पूछा, "उस वचन का क्या होगा ?"

माँ का स्वर भी कुछ गरम हो गया, "उस बात को हम लोग अब आगे

नहीं बढ़ायेगे—जब वे लोग अभी से लेन-देन में कोताही कर रहे हैं तब आगे चलकर न जानें क्या करेंगे—हमें ऐसे कंगालों से सम्बन्ध नहीं करना है।”

वह बात समाप्त करना चाहता था पर माँ उसको बढ़ाती ही चली जा रही थी। उनका अन्तिम वाक्य सुनकर वह तिल-मिला सा उठा और न चाहते हुए भी, सहसा रोप भरे स्वर में बोल पड़ा, “अच्छा—तो आप लोग शादी विवाह को एक व्यवसाय मानकर चलते हैं—उसको साधन बनाकर अपना घर भरना चाहते हैं।”

“आज देखती हूँ तुम बहुत बड़-बड़ कर बोल रहे हो—तुम्हें अपने माँ-बाप के लिए ऐसी बातें कहने में लज्जा नहीं आती?” माँ ने कड़क कर पूछा।

“जो भी समझो अम्मा!—तुम्हारी इस बात से आज मेरे हृदय को बहुत गहरी ठेस लगी है—आप लोगों को अपनी इज्जत का ख्याल न हो, पर मुझे है—मैं जो वचन दे चुका हूँ उसका पालन करूँगा—विवाह होगा तो अन्नपूर्णा से ही, वरना नहीं—आप लोग दूसरी लड़की देखने का कष्ट न करें।”

“तो अपनी यह बात अपने पिता जी से भी कह देना—मुझे अब तुम्हारे विवाह से कोई सरोकार नहीं—जैसा मन आये करो” माँ ने बुझे हुए स्वर में कटाक्ष किया।

“मुझे कोई गरज नहीं, अम्मा—जो मन आए पिता जी से कह देना—मैंने अपनी राय तुम्हे बता दी,” इतना कहकर वह तेजी से घर के बाहर निकल गया।

धीरे-धीरे बात आई गई हो गई, पर शेषधर के मन में वह रह-रह कर चुभती रही। उसे इस बात से सदमा पहुँचा कि उसने घर वालों की इच्छा का विरोध करके उनके हृदय को ठेस पहुँचाई। अपने घर वालों से उसे इतना मोह था कि स्वभावतः वह कभी भी ऐसा न कर सकता। पर हर बात की एक सीमा होती है।

इस प्रकार कुछ समय बीत जाने के बाद उसके माता-पिता ने यही निश्चय किया कि उसका विवाह अन्नपूर्णा से ही कर दिया जाय। और एक दिन, वह धूम-धाम से सम्पन्न भी हो गया।

अन्नपूर्णा ने जिस दिन समुराल में पैर रक्खा उसी दिन से उसका माथा ठनका। सारा वातावरण उसे कुछ अजीब सा लगा। सास हर समय मुह फुलाये रहती और बात-बात पर ताने मारती, छोटी ननदे सीधे मुह बात तक न करती। पर सबसे अधिक सदमा और धक्का उसे जिस बात से लगा वह था शेषधर का व्यवहार। सारी बातें देखते-सुनते हुए भी वह जिस प्रकार निर्लिप्त और उदासीन रहता उससे अन्नपूर्णा का हृदय भीतर ही भीतर हाहाकार कर उठता। उसे लगता जैसे उसे एक ऐसे परिवार में झोक दिया गया है जहाँ उसका कोई नहीं है। पति भी नहीं—जिसे वह देवता के रूप में पूजने का अरमान लेकर आई थी। दिन भर चूल्हे-चोके की थकान से चकनाचूर जब वह रात में अपने कमरे में पहुँचती तो उसका मन करता कि शेषधर उससे सात्वना की बातें करे, उसकी सुख-दुख की बात पूछे। पर उसे तो जैसे इन सब बातों से कोई मतलब ही नहीं था। उल्टे जब वह उदास रहती तो शेषधर का व्यवहार और भी विचित्र हो उठता। एक रात को सास के तानों से व्यथित जब वह पति के पास आई तो वह बहुत खोझा हुआ था। अन्नपूर्णा निश्चय करके आई थी कि उस दिन अपनी सारी व्यथा उसके सामने उड़ेल कर वह उसमें पूछेगी—कि मैं आखिर घर की दासी हूँ या तुम्हारी पत्नी। पर उसका विचित्र मूड देखकर वह साहस न कर सकी। मन मसोस कर रह गई। तभी शेषधर ने उसे उदास देखकर रूखे स्वर में कहा, “मैं देखता हूँ.. अन्नपूर्णा, कि तुम हमेशा ही मुह फुलाये रहती हो... यह बात मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं.. घर में भी देखता हूँ तुम्हारी किसी से पटरी नहीं खाती.. इस तरह कितने दिन चल सकता है... मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम मुझसे भी सतुष्ट नहीं हो।”

अन्नपूर्णा को लगा कि जैसे किसी ने घाव पर गरम-गरम अंगारे रख

दिए हों। एक क्षण को सारी व्यथा मुंह तक आ गई। पर वह कुछ कह न सकी। उसे लगा जैसे पति के सामने अपनी व्यथा की चर्चा करना चट्टान से सर टकराना मात्र है। और दूसरे ही क्षण उसका सारा दुःख रोष और झुझलाहट में बदल गया। उसका चेहरा सहसा तम-तमा उठा, पर फिर भी वह कुछ कह न सकी। उसका जी ही न हुआ कि वह उससे बात तक करे। पर तभी शेषधर ने उसी रुखाई से कहा, “तुमने कुछ जवाब नहीं दिया... लगता है अपने को बहुत ऊँचा समझती हो। दुनियाँ की औरतों से निराला... क्यों?”

अन्नपूर्णा फिर भी कुछ न बोली। चुप-चाप उसकी सारी बातें सुनती रही। पर जब दर्द बरदाश्त से बाहर हो गया तो वह अपने को सम्हाल न सकी और फूट-फूट कर रो पड़ी। पर उसके आँसुओं का प्रभाव शेषधर पर और भी उलटा पड़ा... और वह घृणा मिश्रित स्वर में बोला, “मुझे तुम्हारे आँसू जरा भी अच्छे नहीं लगते... तुम समझती होगी कि इनका मेरे ऊपर कोई प्रभाव पड़ेगा... पर यह तुम्हारी भूल है... न हसना न बोलना... बस दिन रात मनहूस सूरत बनाये रहना... ऐसा ही था तो मुझसे विवाह ही क्यों किया।”

अन्नपूर्णा कुछ बोली नहीं। चुपचाप सिसकती रही। शेषधर भी झुझलाकर मोने चला गया।

रात भर शेषधर को नींद नहीं आई। अन्नपूर्णा की सिसकियाँ हृदय कबोटती रहीं पर वह उसे किसी प्रकार भी साँत्वना देने का साहस न कर सका। वह सब कुछ देखता-सुनता था, अन्नपूर्णा के साहस और सहिष्णुता की मन ही मन सराहना भी करता था, यह भी अनुभव करता था कि उसके साथ अन्याय और अत्याचार किया जाता है, पर अपने मन की बात उसके सामने व्यक्त करने में उसे डर-सा लगता था। अपनी माता और बहनों के व्यवहार से वह अन्नपूर्णा से भी अधिक व्यथित रहता। उनसे जी भर के घृणा करता, पर उस व्यथा और घृणा को पत्नी के सामने व्यक्त करने का साहस न कर पाता। वह नहीं चाहता था कि

वह उसे किसी प्रकार भी परिवार वालों से पृथक् समझे ।

इस प्रकार उन दोनों के बीच की दूरी बढ़ती ही गई । पति को बेहद प्यार करते हुए भी अन्नपूर्णा उसको बिल्कुल नहीं समझ पा रही थी । वह उसके लिए एक जटिल समस्या से भी अधिक जटिल बना हुआ था । वह अच्छी तरह समझती थी कि शेषधर को उससे पूरी सहानुभूति है, फिर भी उसका व्यवहार उसके लिए एक पहेली बना हुआ था । इस प्रकार वह मन ही मन घुलती रही, और उसका स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता गया ।

इधर शेषधर पूरी सहानुभूति रखते हुए भी उसके सामने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का साहस न कर पाता । दोनों एक दूसरे के लिए पहेली बने हुए थे । बिल्कुल पास रह कर भी कोसों दूर थे ।

इसी प्रकार समय बीतता गया और दोनों पास आने की चेष्टा करते हुए भी दूर ही होते गये ।

एक दिन शेषधर आफिस से लौटा तो देखा घर में सन्नाटा था । माँ, बहनें, भाई, अन्नपूर्णा—कोई भी नहीं दिखाई दिया । आवाज दी तो रसोई से अन्नपूर्णा की आवाज सुनाई दी, “जी, मैं यहाँ हूँ ।”

शेषधर सीधा रसोई में चला गया । देखा अन्नपूर्णा तरकारी काट रही थी और उसकी आँखें डब-डबाई हुई थी ।

“तुम रो रही हो ?” शेषधर ने बड़े ही खिन्न स्वर में पूछा ।

“नहीं तो” अन्नपूर्णा ने अपना स्वर मयत रखने की व्यर्थ चेष्टा की ।

“और सब कहाँ गये ?” शेषधर के स्वर में रोष था ।

“सब लोग पिताजी के साथ सिनेमा देखने गये हैं ।”

“और तुम ?”

“खाना जो बनाना था” कहते कहते अन्नपूर्णा की व्यथा का बाँध टूट पड़ा । क्षण भर शेषधर भौचक्का सा खड़ा रहा, फिर रोष भरे स्वर में बोला, “ओफ !—मेरी कमाई—और मेरी हा पत्नी की

इतनी उपेक्षा—जैसे वह परिवार का अंग ही न हो.. देखता हूँ बाते सीमा लाँघ रही हैं—अब मुझे जबान खोलना ही होगा।”

“अरे ! आप क्यों इस बात से परेशान होते हैं,” अन्नपूर्णा ने भरपूर हँसते हुए कण्ठ से व्यंग किया।

और दिन होता तो शेषधर उसी पर झुझला पड़ता पर उस दिन उसकी दबा हुई पीड़ा जबान पर आ गई थी। वह अन्नपूर्णा के सामने अपना हृदय चीर कर रख देने को आतुर था। बड़े ही मार्मिक स्वर में बोला, “तुम जबान से कुछ नहीं कहती अन्नपूर्णा पर यह न समझो कि मैं कुछ देखता सुनता नहीं—सब कुछ जानता हूँ—तुम विश्वास नहीं करोगी पर तुमसे भी अधिक मेरा हृदय घायल है—पर मैं तुम्हारे सामने कुछ भी व्यक्त नहीं कर पाता—क्यों—मैं स्वयं नहीं जानता—शायद परिवार के प्रति मोह ही इसका कारण हो” कहते कहते उसका स्वर-भरा गया।

“पर मैं भी तो आप ही के परिवार की हूँ” अन्नपूर्णा ने धीरे से कहा।

“मैं अपराधी हूँ अन्नपूर्णा—आज मुझे जी भर के सुना लो—जो चाहो कह लो—उससे मेरे हृदय की व्यथा हल्की हो जायगी—विश्वास मानो—तुम्हें कलक से वचान के लिए ही मैंने कभी तुम्हारा पक्ष नहीं लिया—मैं किमी की जबान से यह नहीं सुनना चाहता था कि तुमने आकर मुझे परिवार से छीन लिया—पर अब देखता हूँ मुझे अपनी जबान खोलनी ही होगी।”

अन्नपूर्णा ने बीच ही में टोक कर कहा, “तो आज तक आप अपने हृदय की बात मुझसे छुपाये क्यों रहे—मेरे लिए पहली क्यों बने रहे—मैं आप से कोई बाहर थोड़े ही हूँ—आप को किसी से कुछ नहीं कहना है—बस आप मेरे साथ हैं—मैं हसते-हसते सब कुछ बर्दाश्त कर लूँगी—इतने दिनों से अकेलेपन का अनुभव करते करते पागल सी हो गई थी—पर आज मुझे सहारा मिल गया है—मैं बहुत खुश हूँ” आँसुओं के बीच भी अन्नपूर्णा के चेहरे पर मुस्कराहट नाच उठी। उसका मन पति के

हृदय की विशालता में लीन हो जाने को आतुर हो उठा। और उसने शेषधर के समीप जाकर अपनी धोती के पल्ले से उसके आँसू पोछते हुए मुस्करा कर कहा, "आज मैं पहली बार आपको अच्छी तरह समझ पाई हूँ—आप सचमुच देवता हैं—पर पत्थर के।"

शेषधर उसका पल्ला हटाते हुए धीरे से मुस्करा दिया।

दूसरी शादी

नीलकण्ठ के सामने जब दूसरी शादी की चर्चा चलती तो वह एकाएक उसका विरोध तो न कर पाता, पर उसके हृदय पर हथौड़े की सी चोट लगती, जिसका अनुभव उसके अतिरिक्त और कोई न कर पाता। वह छट-पटा कर रह जाता पर बूढ़े माँ-बाप के सामने खुलकर यह कह देना कि 'अब वह किसी भी दशा में विवाह न करेगा' उसे उच्छृंखलता मी लगती थी। वह भीतर ही भीतर घुलता रहता, और मर्माहत होता किंतु स्पष्ट रूप से अपने भावों को दूसरों के सामने न रख पाता। पता नहीं यह उसके सहज मकोच के कारण था अथवा उसकी मानसिक और नैतिक दुर्बलता के कारण।

शादी के पहले, नीलकण्ठ स्वतंत्र-विचारों का एक मस्त युवक था जिसे केवल अपनी पढ़ने-लिखने की धुन से ही मतलब था। इसके बाहर की दुनियाँ से उसे कोई विशेष रुचि न थी और वैवाहिक जीवन का चित्र तो उसकी कल्पना भी न खींच पाती थी। पर धीरे धीरे समाज के बंधन उसको कसने लगे और उनके बाहर निकलने का साहस वह खो बैठा। उसने गृहस्थी के जंजाल में न फँसने की इच्छा प्रकट की; पर कमजोरी के साथ; और इसी कारण उसे शादी करनी पड़ी।

किंतु जिस जीवन की वह कल्पना करने में भी असमर्थ था, उसने यथार्थ होकर उसे अचम्भित कर दिया। अनुराधा उसके जीवन में एक प्रकाश किरण के समान आई और उसके अभावो की पूर्ति बन गई। उसके ससर्ग में आकर नीलकण्ठ ने पहली बार देखा कि उसका जीवन कितना अपूर्ण था। और वह अभी तक किस प्रकार काल्पनिक पूर्णता का अनुभव करता आ रहा था। उनका जीवन अत्यंत सतोष, मुख और प्रेम से बीतने लगा।

कभी कभी उन दोनों में विचित्र तरह की बातें होती। एक बार अनुराधा ने पूछा—“यदि मैं मर जाऊँ तो आपको कितने दिनों तक याद आती रहूँगी ?”

“” नीलकण्ठ ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

“अरे ! दो दिन, चार दिन, महीना भर; कुछ बताइये तो !” हँसकर अनुराधा ने उसे चिढ़ाते हुए कहा।

“देखो अनुराधा ! अब तो तुम्हारे बिना मैं अपनी कल्पना भी नहीं कर पाता; फिर तुम ऐसी बात क्यों पूछती हो ?” नीलकण्ठ ने व्यथित होकर कहा।

“वाह महात्मा जी ! आप तो हर बात को गंभीर ही समझ बैठते हैं ! मैं तो हँसी कर रही थी।” अनुराधा ने वातावरण भारी होते देखकर कहा।

“नहीं अनुराधा” वैसी ही गंभीर मुद्रा में नीलकण्ठ ने उत्तर दिया, ‘यह तुम्हारा प्रश्न कभी न कभी सामने अवश्य आयगा। हम दोनों मृष्टि के क्रम से बाहर तो हैं नहीं। अब प्रश्न यह है कि कौन ससार में अकेला छूट जाता है। यदि तुम छूट जाओ, तो मैं तुमसे ऐसा प्रश्न नहीं करता क्योंकि मैंने तुम्हें बहुत निकट से देखा है; तुम्हारे बारे में मेरी एक निश्चित धारणा है; अटल विश्वास है। तुम्हारा प्रश्न उस समय का है, जब इस दुर्भाग्य को सहने के लिये मैं रह जाऊँ ! उस स्थिति के लिये मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि तुम्हारे बिना शायद मैं जीवित न रह सकूँ।

यदि मेरा शरीर बच भी गया, तो भी मेरा हृदय, मेरा मस्तिष्क, मेरी आत्मा—सब मर जाएँगे। केवल औरों की दृष्टि में मैं जीवित रहूँगा।”

“अरे छोड़िये भी अपनी फिलासफी; आपसे तो हँसी करना भी गुनाह है। बात का वतगड़ बना देते हैं।” अनुराधा ने पति के मुह पर हाथ रखते हुए कहा। और फिर वे दोनों इधर उधर को बातें करने लगे।

और एक दिन ऐसा आ ही गया जब नीलकण्ठ इस ससार में अकेला रह गया। उसकी अनुराधा उसे छोड़कर चली गई। इस बज्रपात से नीलकण्ठ का जीवन अस्तव्यस्त हो गया। उसकी शक्ति, उसका उत्साह जीवन के प्रति उसका अनुराग सब कुचल गया।

पर समाज और घरवालो ने उसे दूसरी ही दृष्टि से देखा। उनकी दृष्टि में उसे अनुराधा के मर जाने का इतना दुःख न था; जितना अपनी गृहस्थी के छिन्न-भिन्न हो जाने का। नीलकण्ठ उन्हें नहीं समझा पाता था कि उसे काहे का और कितना दुःख है और इमी कारण लोग उसे दूसरी शादी के लिये घेरने लगे।

पहले पहल जब यह बात उसके सामने रखी गई तो वह हक्का बक्का रह गया। क्षोभ और ग्लानि के कारण वह एक शब्द भी न बोल सका। अकेले में जाकर जी भर कर रोया और उसे जान पड़ा कि मृत्यु ने अनुराधा के प्रति उसके प्रेम को और भी प्रगाढ़, अटूट और अनन्त कर दिया है।

पर समाज के रुख ने उस मृत-प्राय व्यक्ति को भी व्यग्र कर डाला। जितने दबाव पड़ सकते थे, पड़े। बूढ़ी माँ ने तो रो रो कर रात और दिन एक कर डाला। घबड़ा कर नीलकण्ठ ने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया, अपने शेष जीवन की भीख माँगी; पर वे उसके दुःख को न समझ सकी। अपनी बात पर अड़ी रही। लाचार नीलकण्ठ को झुकना पड़ा। उमने प्रियवदा को पत्नी बनाने का वचन दे दिया। माँ खुशों से फूली न समाई, पिता ने समझा—‘अब उसका दुःख हल्का पड़ जायगा। वह उज्ज्वल भविष्य के सुनहले सपने फिर देखने, लगेगा।’

पर नीलकण्ठ के ऊपर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई उसको केवल वह

ही अनुभव कर सका। उसको याद आई अवश्य; किंतु प्रियंवदा की नहीं वरन् अनुराधा की। उसे एकाएक उस दिन की याद आई जब अनुराधा ने उससे पूछा था—“यदि मैं मर जाऊँ तो आपको कितने दिनों तक याद आती रहूँगी?” और वह बहुत खिन्न हो गया। इस प्रकार औरों के अनुमान के विपरीत अनुराधा की स्मृति उसके हृदय में दिन प्रतिदिन और भी सजीव होती गयी।

धीरे धीरे वह दिन भी आ पहुँचा जब प्रियंवदा घर में बहू बन कर आगई। नीलकण्ठ बराबर समझ रहा था कि एक भोली-भाली निर्दोष लडकी के साथ वह बहुत बड़ा अन्याय कर रहा था; पर लाचार था। विरोध कर पाने का साहस न होने के कारण एक यंत्र की भाँति वह समाज की इच्छापूर्ति करता जा रहा था। प्रियंवदा की माँग भरने का समय आया तो नीलकण्ठ का हाथ काँप उठा और आँसुओं की बड़ीबड़ी बूँदें धरती पर टपक पड़ी। घरवालों ने इस घटना को कोई महत्व नहीं दिया पर प्रियंवदा का हृदय किसी अज्ञात आशका से काँप उठा।

इस प्रकार नीलकण्ठ के जीवन ने फिर एक नया मोड़ लिया। अपने साथ साथ प्रियंवदा का जीवन भी नीरस बना डालने का उसे दुःख था, पर वह परिस्थिति के कारण विवश था। पहले पहल जब प्रियंवदा उसके कमरे में आई तो उसे चिन्ताग्रस्त, खिडकी के बाहर शून्य में ताकते हुए पाया। उसका साहस न हुआ कि वह उसका ध्यान भंग करे। बचपन से ही प्रियंवदा अपने दुःख की अपेक्षा दूसरों के कष्ट को ही अधिक महत्व देती रही थी। इस समय भी वह भूल गई कि वह नीलकण्ठ की नव-विवाहिता किंतु उपेक्षिता पत्नी है; वह एकटक उस व्यक्ति को देखती रही जो प्रयास करके भी अपनी मृत-पत्नी को भूल पाने में असमर्थ था। औरों से जो कुछ सुना था उससे प्रियंवदा को अनुमान हो गया था कि नीलकण्ठ ने स्वेच्छा से उसे वरण नहीं किया, विवश होकर ही किया था। किसी भी स्त्री का हृदय ऐसी परिस्थिति में विद्रोह कर बैठता; किंतु प्रियंवदा पति को दयाभरी दृष्टि से देखती हुई सोचती रही—“ऐसा अगाध प्रेम भी

वास्तव में श्रद्धा की वस्तु है !”

एकाएक प्रियंवदा को द्वार के पास खड़े देखकर नीलकण्ठ ने चौक कर कहा “अरे ! कब से खड़ी है आप ?”

प्रियंवदा ने लजाकर नीचे देखते हुए कहा “अभी आई हूँ।” “आइये बैठिये” कहते हुए नीलकण्ठ ने एक कुर्सी उसकी ओर खिसका दी। प्रियंवदा ने बैठने के पूर्व झुककर पति के चरण छू लिये।

नीलकण्ठ ने दुःखपूर्ण कण्ठ स्वर में कहा “आज हमलोग पहली बार मिले हैं। आपके हृदय में उमगे होंगी; भविष्य के सुन्दर स्वप्न होंगे किन्तु मैं प्रेम के साथ आपका स्वागत करने के स्थान पर, अपनी मनस्थिति से परिचित करा देना चाहता हूँ। मुझे स्वयं बहुत क्लेश हो रहा है कि मात्र कायरतावश मैं आपको इन काँटों में घसीट लाया..... अपनी दुर्बलता पर मैं कितना लज्जित हूँ इसका अनुमान संभवतः आपको नहीं हो पायगा। अपने साथ साथ मैंने आपके जीवन को भी कितना नीरस; कितना निस्सार बना डाला...” कहते कहते नीलकण्ठ ने अपने मुँह को दोनों हाथों में छुपा लिया।

प्रियंवदा ने सहज स्वर में कहा “जो कुछ हो गया उसे न मैं मिटा सकती हूँ, न आप; फिर इतने व्यथित होने से क्या लाभ !” किन्तु उसे अपने ऊपर स्वयं आश्चर्य हुआ। जिसके नाम की चर्चा आ जाने पर ही वह लाज से लाल होकर भाग जाती थी; जिसकी ओर देखने के लिये उसके नेत्र, लाख चाहने पर भी, न उठते थे; आज उसकी ओर देखने में और उससे बात करने में उसे तनिक भी सकोच नहीं हो रहा था। त्याग और उदारता की भावना ने उसे इन सब बातों से ऊपर उठा दिया था या शायद उसकी कोमल भावनायें इतनी सुन्न पड़ गई थी कि वह किससे क्या बात कर रही है यह अनुभव ही नहीं कर पा रही थी। उसके सामने नीलकण्ठ एक ऐसा व्यक्ति मात्र था जिसे उसकी संवेदना की, उसकी दया की आवश्यकता थी। वह जानती थी कि इसके बदले में उसे कुछ नहीं पाना है, फिर भी वह निश्चिन्त थी।

“नहीं ! वह मिट नहीं सकता किन्तु उसे निभाऊंगा भी कैसे ? ... मैंने अनुराधा के साथ भी विश्वासघात किया और आपके साथ भी अमानुषिक अन्याय”

“दीदी के साथ विश्वासघात तो तब होता जब आप उन्हें भूल कर मुझे सहर्ष अपना लेते ...”

नीलकण्ठ ने आश्चर्य के साथ अपनी उस पत्नी को देखा जो कुछ न पाकर भी इतनी सद्य है !

“रही मेरी बात। सो मेरी चिन्ता मुझी पर छोड़ दीजिये। कभी रोती-धोती या भाग्य को कोसती दिखाई दूँ तो आप अपने को दोषी ठहरा लीजियेगा...” प्रियवदा ने खिड़की के बाहर देखते हुए कहा।

नीलकण्ठ को लगा जैसे उसके घायल मन को किसी ने जलती हुई सलाख से छू दिया। प्रियवदा उसे दोष देती; बुरा भला कहती, तो वह किसी तरह सह लेता किन्तु उसकी अपने को इस तरह मिटा देने की भावना देखकर वह सिहर उठा। उसकी आँखों में आँसू आ गये।

तभी प्रियवदा ने काँपते हुए स्वर में फिर कहा—“मैं तो आजीवन जिस प्रकार से आपकी सेवा कर पाऊँगी, करूँगी; किन्तु एक त्याग आपको मेरे लिये अवश्य करना होगा...”

“क्या” नीलकण्ठ समझ न पाया कि वह क्या चाहेगी !

“जब कोई मेरे मायके से आये तो उसे इस दूरी का भास न हो; बस यही मेरी प्रार्थना है !” कहकर प्रियवदा कुछ देर चुपचाप बैठी रही फिर धीरे धीरे नोचे लौट गई।

वह भूखा था

चौराहे के एक तरफ, जहाँ रोज सुबह बहुत से ठेले वाले और डलिया ढोने वाले मजदूर जमा रहते हैं, उस समय केवल दो मजदूर बैठे थे; एक कहीं सामान पहुँचा कर वापस लौटा था और आराम से बैठा बीड़ी पी रहा था, दूसरा झाबा पास रखे मिट्टी में अगुली से लकीरे खींच रहा था। पहले ने मुह से धुआँ निकालते हुए जेब में हाथ डाला; कुछ पैसे निकाल कर गिने और उन्हें वापस रखते हुए बोला—“क्यों बे महोपू ! तू सबेरे से बैठा मक्खियाँ ही मार रहा है ?”

महीपू ने अपने साथी की तरफ कठोर दृष्टि से देखकर मुह घुमा लिया फिर कुछ सोचकर वह उठा, हाथ से बनाई हुई लकीरों को पँर से मिटाते हुए डलिया उठाई और एक तरफ चल दिया। पास ही किसी व्यक्ति के एक बोरे के निकट खड़ा देखकर उसने बड़ी आशा से पूछा—

“इसे कहीं पहुँचाना होगा बाबू जी ?”

उस व्यक्ति ने महीपू पर एक नजर डालकर हाथ हिलाते हुए कहा—
“जाओ, जाओ; तुमसे नहीं होगा।”

“सरकार बताये तो कहाँ ले चलना है” महीपू ने गिड़गिड़ा कर पूछा। ‘सरकार’ ने चिढ़कर डाँटते हुए कहा “क्यों जान खाये जा रहा है ?

कह तो दिया नहीं उठवाना है !”

महीपू फिर कुछ दूर जाकर एक पान वाले की दूकान के पास बैठ गया। उसके आस पास चारों तरफ लोग अपना अपना काम करने में व्यस्त थे किंतु महीपू के लिये कोई काम नहीं था। उसे जेल से छूटे आज तीसरा दिन था। जेल जाने के पूर्व उसकी जो स्थिति थी, ठीक वैसी ही छूटने के बाद भी थी। न घर-द्वार, न बाल-बच्चे। कारागार से मुक्ति पाकर भी विस्तृत संसार में वह बिल्कुल अकेला था; न कोई आगे, न कोई पीछे ! बहुत से कैदियों को छूटने पर प्रसन्नता होती है। उल्लास के साथ, वे प्रतीक्षा करते हुए अपने सगे-संबंधियों के बीच पहुँच कर अपना पुराना काम, नये सिरे से सम्हाल कर आराम से दिन काटते हैं। पर महीपू के लिये क्या था ? जैसा बन्दी, तैसा मुक्त ! अन्तर केवल इतना था कि जेल के भीतर वह निश्चित था—बधी हुई दिनचर्या, नपा-तुला भोजन। बाहर केवल अंधकार ही अधिकार था।

महीपू ने ठड़ी साँस लेकर पानवाले से पूछा—“क्यों भइया! को काम नहीं दिला सकते ?”

पान वाले ने ग्राहक के हाथ में चार बीड़े पकड़ाते हुए उत्तर दिया—“काम कोई बीड़ा तो है नहीं जिसे तुम्हारे हाथ में थमा दूँ ! भगवान ने जब हाथ-पैर दिये हैं, तो ढूँढने से काम भी मिल ही जायगा। मगर तुम जो चाहो कि तुम्हें ऐसे बैठे बैठे काम मिल जाय; सो तो हो नहीं सकता !” फिर ग्राहक की तरफ घूम कर बोला, “घंटो से मैं इसे देख रहा हूँ बाबू जी; पहले उस चौराहे के पास बैठा था; अब यहाँ आन बैठा ! ऐसे निकम्मे क्या काम करेगे !”

महीपू लज्जित और दुखी होकर कपडों की धूल झाड़ता हुआ उठ कर खड़ा हो गया। पानवाले ने उससे पूछा, “पहले कहाँ काम करते थे ?”

“जेल में” कड़वे स्वर में महीपू ने उत्तर दिया और आगे बढ़ गया।

वह बेहद थक गया था “आज तीसरा दिन है,” उसने सोचा। “और पेट में अन्न का दाना भी नहीं गया। ऐसे कब तक चलेगा ? लेकिन

वह भूखा था

तेतीस

मैं कलूँ क्या ? दर दर की खाक छान रहा हूँ फिर भी कुछ काम नहीं मिलता। बिना जाने-बूझे कोई नौकर रखना नहीं चाहता; और जान-बूझ कर रखेगा ही कौन ? सोचता था मजदूरी करना सबसे आसान है, इधर से उधर सामान पहुँचाया और पैसे खड़े कर लिये। लेकिन देखता हूँ कि वह और भी मुश्किल है ! सामान हल्का होता है तो लोग कह देते हैं 'मजदूर नहीं चाहिये'; भारी होता है तो कह देते हैं "मरियल तो है; तुझसे कैसे उठेगा !" आज भी भूखे ही रहना पड़ेगा

सहसा महीपू की गति धीमी पड़ गई। एक रिक्शे में कोई स्त्री—जो वेशभूषा से सपन्न लग रही थी—अपने 'बैग' में से पैसे निकालते हुए, अपने साथ बैठे लड़के से कुछ लाने को कह रही थी। महीपू ने ललचाई हुई आँखों से देखा—चवन्नी निकालने के लिये उस स्त्री ने बहुत से नोट, रुपये, और रेजगारी निकाल कर देखी। 'अगर वह औरत मुझे दो-चार आने दे दे, तो मैं अभी जाकर कुछ खा लूँ; भूख के मारे जान निकली जा रही है लेकिन वह देगी भी या नहीं ? ... शायद न दे हो सकता है दे ही दे आखिर मेरे मुह से क्या वह न जान जायगी कि मैं कई दिन का भूखा हूँ !' महीपू ने उस रिक्शे की ओर बढ़ने के लिये कदम उठाया किंतु फिर ठिठक कर खड़ा हो गया। 'अगर वह कह दे कि 'जाओ ! कुछ काम करो' तो हाथ फैलाना भी बेकार होगा ! ऊंह जो मन में आये, कहे; मेरी कौन सी इज्जत घट जायगी।' उसने महिला के पास जाकर गिड़गिड़ाते हुए कहा "माँ ! तीन दिन से भूखा हूँ—दो-चार आने दे दे तो ..."

"सब भूखे ही मरते रहते हैं" उस स्त्री ने बिगड़ते हुए कहा— "लेकिन काम नहीं करते बनता ! बैठे बैठे खाने को मिल जाता है न, फिर काम करने की जरूरत ही क्या है ? हट्टे-कट्टे तो हो, कही नौकरी क्यों नहीं कर लेते ?"

महीपू ने निराश होकर पूछा—"आप मुझे नौकर रखेंगी ?"

“लो इनकी सुनो ! मैं क्यों नौकर रखूँगी ? कल को तुम मेरे घर का सब रुपया-पैसा, कपड़ा-लत्ता लेकर चम्पत हो जाओ तो मैं तुम्हें कहाँ ढूँढती फिरूँगी ? यह भी खूब है। या भीख दो, या नौकरी दो।” सहसा लड़के को लौटते देखकर स्त्री ने उससे कहा “ले आये ? आओ बैठो। चलो रिक्शेवाले !”

रिक्शा आगे बढ़ गया और महीपू देखता ही रह गया। उसे वे दिन याद आने लगे जब वह भी रिक्शा चलाता था। उसकी पत्नी थी और एक नन्हा सा बच्चा। तीन चार रुपये वह रोज कमाकर लाता था; दारू-पीन या जुआ खेलने की लत न थी इससे गुजारा मजे में हो जाता था। दिन-भर जानवरों की तरह रिक्शे में जुते रहकर लोगों का बोझा खींचना और रात को बेदम होकर पड़ रहना—यही उसकी दिनचर्या थी।

धीरे धीरे वह काफी कमजोर हो गया, लेकिन चाहते हुए भी वह कुछ कर न पाया; क्योंकि स्वास्थ्य ठीक रख पाने के न उसके पास साधन थे, न इतना समय था। यदि वह अपनी ओर देखता तो बीबी-बच्चे का पेट कैसे भरता ? उसे अपनी विशिष्ट चिंता भी न थी। दिन-भर जी-तोड़ परिश्रम करने के बाद जब शाम को वह घर लौटता तो जमना बिगड़कर कहती “फिर तुमने इतनी देर कर दी ! मैं पूछती हूँ तुम्हें भूख-प्यास नहीं लगती क्या ?”

महीपू हँस कर कहता, “लगी तो है मगर तेरा गुस्सा ठंडा हो तब तो कुछ मिले !” खा पीकर जब वह अपने बेटे को गोद में लेकर बैठता तो उसे लगता जैसे उसकी सारी थकान दूर हो गई हो।

पर बहुत दिन तक ऐसे न चल सका। एक दिन जब वह सो कर उठा तो उसके हाथ-पैर बुरी तरह जल रहे थे। उसने तुलसी की पत्ती और दालचीनी का काढ़ा बनवाकर पी लिया; लेकिन शाम तक बुखार और बढ़ गया। जमना ने मोहल्लेवालों से पूछकर तरह तरह की दवाइयाँ दी; सिर में बहुत दर्द था सो लौंग घिस कर लगाई किंतु किसी से कुछ लाभ न हुआ। तीन-चार दिन बाद डाक्टर को दिखाया तो उसने मियादी

वह भूखा था

पेतीस

बुखार बताया। महीपू का बुखार बढ़ता गया और घर की दशा बिगड़ती गयी। जो थोड़ा बहुत बचा हुआ रुपया था वह सब डाक्टर की पाँच-सात दिन की दवा में ही समाप्त हो गया। जगह जगह से माँग कर जमना किसी तरह महीपू का इलाज कराती रही। खुद वह अक्सर बिना कुछ खायें ही दिन काट देती; कभी कभी बच्चे के दूध का भी प्रबन्ध न हो पाता और वह भूख से रोता रोता सो जाता। महीपू के पूछने पर जमना कह देती कि 'उसके पेट में दर्द है, इसी से रो रहा है।' वह नहीं चाहती थी कि उसके बीमार पति को परिस्थिति का कुछ भी ज्ञान हो। महीपू खाट पर पड़े पड़े देखता कि उसका फूल सा बच्चा कुम्हलाने लगा है। जमना पीली पड़ती जा रही है — उसकी इच्छा होती कि वह उसी समय रिक्शा लेकर निकल जाय किंतु उठ कर बैठे ही उसे चक्कर आ जाता और दुःख तथा संताप के आँसू भीतरही भीतर पीकर वह चुपचाप फिर खाट पर पड़ रहता। चार्लिस दिन बाद उसका बुखार टूटा। जमना ने चैन की साँस ली।

उसी दिन दोपहर को अचानक बच्चे को तेज बुखार हो गया। जमना और महीपू ने सोचा कि अगर दूसरे दिन बच्चे का बुखार न उतरा तो वे उसे भी डाक्टर को दिखा देंगे। "आज काकी से पूछ कर कुछ दे दो। कल जरूर दिखा देंगे। बच्चे की बात है, देरी करना ठीक नहीं! बुखार बढ़ता जा रहा है।" महीपू ने पत्नी से कहा।

लेकिन वह 'कल' नहीं आया और छः-सात घंटे में ही माँ-बाप को रोता-बिलखता छोड़ कर उस नन्हें से बच्चे ने आँखें मींच ली। पड़ोसी यदि दया करके साथ न खड़े होते तो शायद उस बच्चे को अन्तिम संस्कार भी नसीब न होता। जमना बेसुध सी पड़ी थी। पड़ोसी बच्चे को कपड़े में लपेट कर ले गये। महीपू पड़े पड़े उन लोगों को जाते देखता रहा और अपनी बेबसी पर फूट फूटकर रोता रहा।

दूसरे दिन जमना को बाहर जाते देख महीपू ने पूछा, "कहाँ जा रही है जमना?"

जमना ने बिना कुछ कहे दवा की शीशी दिखा दी। महीपू चुपचाप उसके लौटने की प्रतीक्षा करता रहा। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, उसका हृदय किसी अज्ञात आशंका से काँपने लगा। सबरे की गई-गई जमना रात तक न लौटी। धडकते हृदय से सारी रात वह बैठा बैठा उसकी प्रतीक्षा करता रहा। जरा सा शब्द भी होता, तो उसे ढाढस हो जाता कि जमना लौट आई। लेकिन रात बीत गई, दो दिन और भी बीत गये किन्तु वह न लौटी। गरीब महीपू ने पड़े-पड़े ही उसके लिये भी चार आँसू बहा लिये। अब वह बिल्कुल अकेला रह गया था। बीमार हो या अच्छा, उसे स्वयं ही अपनी देखभाल करनी थी। तीन दिन बिना दवा और पथ्य के काटने से महीपू को चक्कर आने लगे। वह दीवारों का सहारा लेता हुआ, और जगह-जगह बैठता हुआ पास के बाजार पहुँचा। वहाँ उसके परिचितों की कुछ दुकानें थीं। उसे देखते ही रघू हलवाई ने कहा “कहो भइया? अब तो चलने-फिरने लगे। हमारे दस रुपये कब तक दिलवाओगे।

रघू की बात सुनकर भीखू बोला “पहले मेरे पाँच धर देना तब किसी दूसरे की बात करना महीपू। तुम्हारी घरवाली बड़ी मिन्नतें करके ले गई थी नहीं तो मेरे पास देने के लिये हैं ही कहाँ। यहाँ तो अपना ही पूरा नहीं पड़ता।”

महीपू वैसे ही दुःख और दुर्बलता से निर्जीव सा हो रहा था; इन लोगों की माँग से उसका सिर चकरा गया। वहीं एक पत्थर पर बैठकर वह इधर-उधर देखने लगा। सहसा उसके माथे पर बल पड़ गये। वह तेजी से उठकर जगन्नाथ-सुनार की दुकान पर गया; उसकी आँख बचाकर एक चाँदी का कड़ा उठा कर यह कहता हुआ भागा “मैं सबकी पाई-पाई चुका दूँगा!..... मैं सबकी पाई-पाई चुका दूँगा।”

लेकिन जिन लोगों ने उसे कड़ा लेकर भागते देखा था, उन्होंने उसे पकड़ कर सिपाहियों के हवाले कर दिया। उसी चोरी की सजा काटकर वह तीन दिन पहले जेल से बाहर निकला था।

सड़क के किनारे पड़ा-पड़ा महीपू रात भर अपने विगत जीवन के स्वप्न देखता रहा। सुबह होते होते वह भूख प्यास से इतना निर्जीव हो गया था कि उसमें उठने-बैठने तक की शक्ति शेष न थी।

पर पड़ा रहना उसके लिये असम्भव हो गया था। भूख की ज्वाला ने उसे उठाकर खड़ा कर दिया। उसकी दशा बिल्कुल पागलों जैसी हो गई थी। उसे क्रोध आ रहा था अपने दुर्भाग्य पर और समाज के अन्याय पर। वह किसी तरह से आगे बढ़ा। पास ही हलवाई की एक बड़ी सी दुकान थी। वह मिठाइयों की तरफ एकटक देखता हुआ दुकान में घुस गया। हलवाई ने चिल्लाकर रोका—“अरे क्या है ? कहाँ दुकान में घुसा आ रहा है। निकल बाहर...” लेकिन उसने जैसे सुना ही नहीं। भूखे-कुत्ते की तरह रसगुल्लों के थाल पर टूट पड़ा।

जब-तक आस-पास के लोग दौड़ें, वह जो कुछ हाथ लगा, मुंह में भरता गया। एक आदमी पास आकर हटाने लगा तो उसे धक्का देकर गिरा दिया। हलवाई ने रोका, तो उसे भी पटक कर, उसकी छाती पर चढ़कर गला दबाते-दबाते बोला “इतना खाना यहाँ जमा कर रक्खा है और हम गरीब भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे हैं देखता रह आज मैं यहाँ एक भी चीज नहीं छोड़गा....निकल जाने को कहता है....अब कह...” वह थककर हाँफने लगा। लोगों ने उसे घसीट कर दुकान के बाहर कर दिया। तब तक सिपाही भी आ गये। उन्हें देखकर महीपू ठहाका मार कर हँस पड़ा और चिल्ला कर बोला :—

“ले चलो ! ले चलो !! अब आये हो तुम लोग ! अब तक कहाँ थे ? मैं तो तीन दिन से तैयार बैठा हूँ....”

और वह फिर ही ! ही !! करके हँस पड़ा।

उर्मि

बचपन की बातें अब काफी धुंधली हो चली हैं, पर फिर भी कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो अमर-प्रकाश स्तम्भ की तरह, उस दूर भागते हुए अस्त-प्राय अतीत में खड़ी हैं। और उसी के सहारे मैं उस धुंधले अतीत में भी सम्बद्ध जीवन टटोल लिया करता हूँ।

उस समय मैं दस ग्यारह वर्ष का ही था, यद्यपि तब की बातें आज भी मेरी स्मृति में सजग हैं। हमारे बगले के दो भाग थे; आधा पिता जी के पास था और आधे में एक जज साहब रहते थे। हम लोग दो परिवारों के सदस्य होते हुए भी एक दूसरे से बहुत हिले-मिले थे। मैं अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान था और उन जज साहब के दो बच्चे थे; एक नन्हा सा लडका-जो उस समय इतना अबोध था कि उसकी एक भी बात मुझे याद नहीं, और दूसरी थी उनकी सात-आठ साल की लडकी, उर्मि। मैं उसे उर्मि नाम से तब भी जानता था और आज भी उसका वही नाम ही मुझे याद है। दिन-रात साथ-साथ खेलना, हँसना-कूदना, लड़ना-झगड़ना बस यही हमारी दिनचर्या थी। जब वह मुझे 'भइया' कहकर पुकारती तो मेरा नन्हा सा एकाकी हृदय इस स्नेह और सम्मान को पाकर फूला न समाता। मैं उसपर अपना अधिकार जताकर

तरह-तरह के आदेश देता और वह हँस-हँस कर उन्हें पूरा किया करती।

एक दिन मैंने उससे एक पत्थर को घिसकर चौकोर करने के लिये कहा था। उस पत्थर से गुडिया के घर का चबूतरा बनना था। पत्थर घिसते-घिसते उर्मी के हाथ थक गये, पर जब वह मुझे दिखाती तो मैं मकान बनाते-बनाते सिर हिला कर कह देता “वाह ! वाह ! इसी को तुम चौकोर कहती हो ? अभी और घिसो !”

आखिर जब वह बहुत थक गई तो ऊबकर उसने पत्थर मेरे पास फेंकते हुए कहा—“रखो अपना पत्थर ! हम तुम्हारे साथ नहीं खेलेंगे।”

उसे जाते देखकर अकेले रह जाने की आशंका से मैं डर तो जरूर गया किन्तु बड़े होने के नाते बड़ी शान से बोला—“जाती हो तो जाओ। मुझे क्या करना है, तुम्हारी ही गुडिया का तो मकान बन रहा था !”

“ऐसा रद्दी मकान हमें नहीं चाहिए.... हम दूसरा बना लेंगे।” उसने मुह बनाकर कहा।

“हाँ ! हाँ बना लो। एक नहीं, दस बना लो। लेकिन फिर मेरे पास दौड़ी-दौड़ी मत आना कि “भइया ! बड़े अच्छे हो, जरा दरवाजे तुम लगा दो.....बगीचा भी हमसे नहीं बनेगा.....” और कन-खियों से उसकी तरफ देखते हुए मैंने पीछे मुड़कर कहा “चलो अच्छा हुआ। अब मजे से ‘चोर-चोर’ खेलेंगे।”

“किसके साथ खेलेंगे ? कोई और है भी !” उसने ठिठक कर पूछा।

“हैं क्यों नहीं.... मोहन है, कृष्णा है, रमेश है....”

“और हम भी तो है” कहकर हँसती हुई वह लौट आई।

इसी तरह हँसते-खेलते लगभग दो वर्ष बीत गये। एक दिन सबेरे-सबेरे उर्मी ने आकर मुझसे कहा “पिता जी की बदली हो गई है” वह बहुत उदास थी। उसकी बात मेरी समझ में नहीं आई, इसी कारण मैंने पूछा “बदली हो गई है तो क्या हुआ ?” “बाबू जी कह रहे थे कि अब हम लोग यहाँ से दूसरी जगह चले जायेंगे” सहमी हुई आवाज में उसने

उत्तर दिया।

मुझे भी कुछ आशंका हुई, किन्तु उसे समझाते हुए मैंने कह दिया “मेरे पिता जी भी वही अपनी बदली करवा लेंगे और फिर वहाँ भी हम लोग साथ-साथ ही रहेंगे।”

लेकिन पता नहीं क्यों; उसी दिन से हम लोग उदास हो गये। खेल कूद में बिल्कुल मन न लगता था। लडाई-झगड़े बन्द हो गये थे। उर्मी ने भेंट के रूप में बहुत सी चीजें दीं—टाफी के रंगीन कागज, पुराने अखबारों में से काटी हुई तस्वीरें, टूटी हुई कलम और रंग-बिरंगी गोलियाँ। मैंने भी उसे ढेर से डाक के पुराने टिकट; अपने हाथ से बनाई हुई खाकी कागजों की कापी, और काठ की छोटी-छोटी दो डिब्बियाँ दीं।

धीरे-धीरे उनका सब सामान भी चला गया। एक दिन वे लोग हमारे घर मेहमान रहे। दूसरे दिन जब जज साहब और मेरे पिता जी उत्तरा सा चेहरा लिये, हाथ मिला कर विदा हो रहे थे तो मैंने उर्मी का हाथ जोर से पकड़ लिया और मचलते हुए बोला, “यह मेरे ही घर रहेगी चाचा जी, इसे यही छोड़ जाइये।”

उर्मी भी चुपचाप अपना गोली आँखों से यही संकेत कर रही थी। तभी जज साहब ने दुलार से मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए भीगे स्वर में कहा, “हम लोग फिर कहीं साथ-साथ रहेंगे बेटा, छोड़ दो, गाड़ी का समय हो रहा है।”

विदा होते समय हम दोनों फूट-फूट कर रोये थे और बड़ी मुश्किल से, रोनी हुई उर्मी वहाँ से गयी थी। किन्तु हम लोगों के साथ-साथ रहने के स्वप्न और वादे फिर कभी पूरे न हुए। पता नहीं उर्मी को मेरी याद रही या नहीं, पर मुझे अक्सर उसकी याद आती रही। प्रारम्भ में तो; जब-जब खेल में साथियों की कमी होती, मुझे उर्मी की बहुत याद आती। पर धीरे-धीरे महीने और साल बीतते गये। उर्मी का स्थान नये-नये साथियों ने ले लिया; फिर भी मैं उसे भूल न सका। भैया-दूज और रक्षा-बंधन पर राखी लिये, टीका लगाने को तत्पर वह छोटी सी बालिका

मुझे रह-रहकर स्मरण हो आती-यद्यपि उस समय राखी और टीके की अपेक्षा मुझे मिठाई और फल तथा उसे कपड़े और रुपयों का ही अधिक आकर्षण रहता था।

इसी तरह बारह साल और बीत गये। समय के साथ-साथ पढ़ने-लिखने का उत्तरदायित्व और मनोरंजन के साधन बढ़ते गये और उर्मि की स्मृति धुधली पड़ती गयी। लगभग तीन वर्ष पूर्व मैं दशहरे की छुट्टी अपने मामा के पास बिताकर घर वापस लौट रहा था। काफी लम्बा सफर था। भीड़ कम होने के कारण मैं रात भर आराम से सोता रहा। सुबह धूप की चमक से मेरी नींद टूट गयी और मैं उठ कर बैठ गया। समय पूछने के लिये इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो देखा कि पास की बर्थ पर बैठा कोई युवक एक युवती से बातें कर रहा था। मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही; वह उर्मि थी। बहुत बड़ी हो जाने और काफी बदल जानें पर भी उसकी आँखों में वही सरलता थी, आकृति पर वही भोलापन। उसके माथे पर लगी चोट के निशान से मैं निश्चित रूप से जान गया कि वह उर्मि ही थी। इतने दिनों बाद अकस्मात् उर्मि को पाकर मैं बहुत सी बातें पूछने के लिये उत्सुक था किन्तु उस अपरिचित युवक की उपस्थिति ने मुझे रोक दिया। “पता नहीं कौन है; क्या समझे!” मैंने सोचा। और फिर उर्मि ने भी उस समय तक मेरी ओर नहीं देखा था। ‘अच्छा पहले उमी को आश्चर्य और प्रसन्नता से उछल पड़ने दूँ?’ मैंने मन ही मन सोचा पर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब उर्मि ने एक बार मेरी ओर अपरिचित की भाँति देखा और बिना किसी प्रतिक्रिया के उस युवक से बातें करने में निमग्न हो गयी। मेरी सारी प्रसन्नता और उत्सुकता पर पानी फिर गया। सोचा ‘क्या यह वही उर्मि है जो दिनभर मेरे साथ खेला करती थी? जो मुझसे दूर जाते समय इतना रोई थी?’ मुझे धक्का सा लगा। मेरा भावुक हृदय ममता का यह तिरस्कार सहन न कर सका।

सूरज डूबे गाड़ी घर पहुँचती थी। अभी दिनभर का सफर बाकी था;

पर इस घटना के बाद मेरी इच्छा ही नहीं हुई कि मैं उर्मि से बातचीत करने की चेष्टा करूँ। उसने बीसों बार मेरी ओर देखा होगा किन्तु उसके लिये तो मैं एक अपरिचित यात्री ही था।

उस युवक ने भी कई बार मुझसे बातचीत करनी चाही पर मैं किताब पढ़ने का बहाना करता रहा और उसकी ओर विशेष ध्यान न दिया। स्टेशन पास आता जान जब मैं अपना सामान ठीक करने लगा, तो उसने पूछा —

“क्या आप यहीं उतरेंगे?”

“जी हाँ। आप कहाँ तक जा रहे हैं?” मैंने कौतूहलवश पूछा।

“मैं भी तो यहीं उतरूँगा” उसने मुस्करा कर कहा; फिर उर्मि से बोला—“तैयार हो जाओ उर्मिला, स्टेशन आने वाला है।”

उस दिन पहली बार उर्मि का पूरा नाम ज्ञात हुआ, ‘उर्मिला’! मैंने साहस करके पूछ ही लिया—“क्या आप नील माधव जी की सुपुत्री हैं?”

“जी हाँ। क्यों?” उसे आश्चर्य हुआ।

“कुछ नहीं, शायद मैं आपको जानता हूँ।”

“आपका शुभ नाम?”

उसके शब्द मुझे बारह वर्ष पीछे खींच ले गये। थोड़े में सब बता दिया।

“ओहो! आप हैं! मैं भी आपको अक्सर याद किया करती थी। आप आजकल कहाँ हैं? क्या काम कर रहे हैं? मुझे बड़ा अफ़सोस है कि आपको पहिचान ही न सकी; शायद आप बहुत बदल गये हैं इसीलिये..”

“पर मैं तो आपको एकदम पहचान गया! खूब भेंट हुई आपसे। अम्मा और बाबू तो आपसे मिलकर और भी प्रसन्न होंगे।”

“अच्छा, वे लोग यही हैं? तब तो मैं उनसे जरूर मिलूँगी।”

“आप ठहरेगी कहाँ?”

“अपने चाचा जी के घर। कल शाम को आप हम लोगों के साथ चाय पीने आइये।”

“अच्छी बात है।...आपने अभी तक इनसे परिचय नहीं कराया।”
मैंने युवक की ओर संकेत करते हुए कहा।

“ये मेरे मित्र हैं—अशोक। यहीं पढ़ते हैं” उसने कुछ झेंप कर कहा।

“बड़ी प्रसन्नता हुई आपसे मिलकर।” मैंने तपाक से हाथ बढ़ाया।

“आपकी और उर्मिला की भेट बड़े नाटकीय ढंग से हुई” उसने मुस्कराते हुए व्यंग किया।

गाड़ी रुक गयी। हम सब उतरने लगे। उर्मि ने कहा “जरूर आइयेगा। यह लीजिये पता.....” मैं ‘नमस्ते’ कह कर जल्दी से चल पड़ा। उन बनावटी बातों और स्नेह रिक्त वातावरण में जैसे मेरा दम घुटा जा रहा था। अम्माँ ने जब सुना तो जैसे उछल ही पड़ी। “ओ हो ! उर्मि बिटिया यही है ! कितनी बड़ी हो गई होगी। कैसी भोली थी बचपन में। मुझे उसकी प्यारी-प्यारी बातें अब भी याद हैं। तुम कल जाकर उसे जरूर ले आना। कहना, तेरी माँ ने तुझे बुलाया है।”

हमारे दिन जब मैं उर्मि के चाचा जी के घर गया तो अशोक भी निमंत्रित था। अधिकांश समय उर्मि उसी से बातें करती रही। बीच बीच में केवल चाय और नाश्ते के लिये मुझे से पूछती जाती थी। चाय समाप्त होने पर मैंने उससे कहा “अम्माँ ने आपको बुलाया है। अगर आपको अवकाश हो तो मेरे ही साथ चली चलिये; वे आपसे मिलने के लिये बहुत उत्सुक हैं।”

“अच्छा ? मैं अभी बताती हूँ” कहकर वह भीतर चली गयी। थोड़ी देर बाद लौट कर उसने कहा—“देखिये आप बुरा मत मानियेगा। आज तो मैं अशोक के साथ सिनेमा जाने का वादा कर चुकी हूँ। फिर किसी दिन आऊँगी।”

“ठीक है, कोई बात नहीं” मैंने रूखे स्वर में जवाब दे दिया।

लौटते समय मुझे अपने उस स्नेह पर, जो मैंने वर्षों से मन में संजो कर रक्खा था, बड़ी ग्लानि हो रही थी। ‘अकृतज्ञ लड़की !’ मैंने चिढ़

कर सोचा, “अम्माँ के लिये प्रणाम तक नहीं कहते बना !”

फिर न मैं उसके घर गया, न वह ही मेरे घर आई। नयी बातें, पुरानी हो गईं। एक शाम मैं पत्नी के लिये रुमाल खरीद रहा था कि मेरे पीछे से किसी ने दुकानदार से कहा, “जरा वह शीशा दिखा दीजिये।” आवाज पहिचानते ही, मैंने धूमकर पुलकित स्वर से पुकारा “उर्मी !”

किन्तु उसकी मुखमुद्रा देखकर मेरी सारी प्रसन्नता बर्फ की तरह जम गई। बड़ी उदासीनता से मेरी ओर देखते हुए उसने पूछा—“कहिये ? ओहो आप !.. अच्छे तो है ?... क्षमा कीजियेगा... मैं बहुत जल्दी में हूँ।”

मैं क्या कहता ? हतबुद्धि सा फिर एकबार अपनी दुर्बलता पर पछताने लगा। उर्मी ने चुपचाप शीशा हाथ में लेकर पास खड़ी मोटर की तरफ बढ़ते हुए पूछा, “सुनिये ! यह ठीक रहेगा ?”

उसके ‘उन्होंने’ शायद मुझे पुकारते सुन लिया था। मेरी ओर संकेत करके धीरे से बोले “कौन है ?” “पता नहीं ! ऐसे ही परिचित बनते हैं !” उसने मुह बना कर धीरे से उत्तर दिया; और फिर मोटर में बैठ गयी।

मैं ठगा सा खड़ा रह गया। इतने वर्ष बाद मैं समझ पाया कि स्नेह की जो रेशमी डोर मेरे मन को न जाने कब से बाँधे हुए थी; उसका अस्तित्व भी उर्मी को ज्ञात नहीं था।

वह मेरी बहन थी; किन्तु मैं उसका कोई नहीं !

मानता

चटर्जी परिवार का गाँव में काफी सम्मान था। यद्यपि दिनेश बाबू की अभी इतनी उम्र नहीं हुई थी कि उनको किसी दृष्टिकोण से भी बूढ़ा कहा जा सकता, फिर भी गाँव के लोग उनको अपने बड़े-बूढ़े के रूप में ही मानते थे। जब कभी कोई समस्या उठ खड़ी होती तो उसके हल के लिए वे लोग उन्हीं के पास जाते। उनकी बुद्धि पर लोगों को विश्वास था; उनके निर्णय का वे सम्मान करते थे। गाँव का कोई भी महत्वपूर्ण कार्य, उत्सव या त्योहार होता तो लोग बिना उनकी सम्मति के एक कदम भी आगे न बढ़ाते।

दुर्गा-पूजा के पुण्य-पर्व की तैयारी सारे देश में बड़ी धूम-धाम से हो रही थी। और फिर, बंगाल का तो वह एक प्रमुख त्योहार था। सारे राज्य में एक विचित्र धार्मिक-हलचल सी मची हुई थी। प्रत्येक नगर, प्रत्येक गाँव, और प्रत्येक घर उत्सव मनाने में तल्लीन था। पर दिनेश चटर्जी के परिवार में कोई उत्साह न था; अन्य वर्षों के समान पूजा की कोई धूम न थी।

उस वर्ष दिनेश बाबू का एकमात्र पुत्र योगेश खाट से लगा हुआ था। उसकी दशा दिन पर दिन बिगड़ती ही जा रही थी। जीवन कुछ संदिग्ध

सा हो चला था। योगेश दुर्गापूजा के सभी उत्सवों में आगे रहता; और उसके सहयोग से सारे गाँव में एक विचित्र सा उल्लास छाया रहता था। पर उस वर्ष वह लाचार था। दिनेश बाबू चिन्ता से व्याकुल थे; और उनकी चिन्ता सारे गाँव की चिन्ता थी।

घर पर दुर्गा की मूर्ति स्थापित की गई थी और दिन रात उन्हीं की पूजा होती। परिवार वालों की ही नहीं वरन् सारे गाँव की देवी से एक ही माँग थी—योगेश के प्राणों की भिक्षा।

पर योगेश, वातावरण से निर्लिप्त, चुपचाप खाट पर पड़ा रहता। वह न जाने क्या-क्या सोचा करता; पर यह बात उसके आचरण से बिलकुल स्पष्ट थी कि वह यह कदापि नहीं चाहता था कि उसकी बीमारी के कारण उत्सव में या उल्लास के प्रदर्शन में किसी प्रकार की कोर-कसर रखी जाय। पर उसके चाहते हुए भी यह कैसे संभव था।

और फिर, जब उसकी प्राण-रक्षा के लिए देवी को बलिदान देने की योजना बनाई गई तब तो उसका कोमल हृदय सहसा विद्रोह कर उठा। वह स्वभाव से ही दयालु और शान्त था। पशु-बलि के पक्ष में तो वह कभी भी नहीं था; और जब जब अवसर पड़ता वह उसका तीव्र विरोध करता था। और, वास्तव में, यह उसी के क्रान्तिकारी विचारों का परिणाम था जो उस गाँव में पशु-बलि इतनी कम हो गई थी। जहाँ तक उसके परिवार वालों का सम्बन्ध था, वे सभी सहृदय और दयालु थे। बिरले ही ऐसे अवसर आते थे जब उनके यहाँ पशु-बलि का आयोजन किया जाता हो।

पर इस बार स्थिति दूसरी ही थी। योगेश के प्राणों की रक्षा के लिए देवी को रिझाना था; उन्हें हर प्रकार से सन्तुष्ट करना था। दिनेश बाबू तो इस परिस्थिति में भी पक्ष में न थे पर क्या करते। पत्नी के ममता भरे अनुरोध और अविरल अश्रुधार ने उन्हें बलिदान का अनुष्ठान करने पर विवश कर दिया। और फिर इसी उद्देश्य से एक बकरा मंगाया गया। पर जब वह योगेश के पास ले जाया गया तो वह उद्विग्न हो उठा। उसका कोमल हृदय उस रक्तपात की कल्पना मात्र से सिहर उठा। और फिर,

सहसा, उसके नेत्र छलछला आये और दिनेश बाबू को सम्बोधित करके अत्यन्त करुण स्वर में बोला,

“बाबा!... आप इस निर्दोष जीव पर क्यों अत्याचार कर रहे हैं... देखिए.. इसकी आँखों में कितनी बेबसी है... कितनी करुणा है... अपनी मूक-भाषा में यह अपने प्राणों की भीख माँग रहा है.. इसे मुक्त कर दीजिए, बाबा!... मुझे विश्वास है... मैं बहुत जल्दी स्वस्थ हो जाऊँगा... मेरी प्राण रक्षा के लिए एक निर्दोष और निरीह जीव की हत्या न कीजिए... इससे मुझे बहुत कष्ट होगा... अपार वेदना होगी. सुधरता हुआ स्वास्थ्य फिर बिगड़ने लगेगा... इसे बन्धन मुक्त कर दीजिए..” कहते-कहते वह सिसक पड़ा। तभी दिनेश बाबू ने स्नेह से उसका मस्तक सहलाते हुए गभीर स्वर में समझाते हुए कहा,

“इतने विचलित क्यों होते हो, बेटा!... तुम तो अच्छी तरह जानते हो कि मैं तो स्वयं ही इसके पक्ष में नहीं हूँ.. पर पुण्य-पर्व है... तुम्हारी माँ ने मानता मानी है.. उनकी इच्छा पूरी होने दो... इस समय इसका विरोध न करो.. इसमें कल्याण ही होगा।”

“कल्याण क्या होगा, बाबा...” योगेश ने आवेश भरे स्वर में फिर कहना शुरू किया, “क्या माँ-दुर्गा इतनी अशक्त हैं जो मनुष्य से, जीवन का आधार, भोजन मागे... और फिर उन्होंने यह कब कहा है कि उन्हें प्रसन्न और सतुष्ट रखने के लिए हत्या की जाये... रक्त और मांस का भोग लगाया जाय... यह सब आडम्बर मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिये रचा है, बाबा.. यह घोर अधर्म है... धर्म के ठेकेदार इस बलिदान को एक पुनीत अनुष्ठान मान सकते हैं.. पर जरा गंभीरता से सोचिए.. क्या यह हत्या नहीं है?... एक निर्दोष जीव को, जो न बोल सकता है और न अपनी रक्षा कर सकता है, इस प्रकार धर्म के नाम पर बलिदान कर देना क्या घोर अपराध नहीं है?... और क्या आपको विश्वास है कि इस निर्दोष की हत्या करके ही मेरे प्राण बचाये जा सकते हैं?... आप स्वयं देखिए.. इसकी आँखों में कितनी पीड़ा है... यह मुझसे अपने प्राणों

की भीख माँग रहा है... इसे मुक्त कर दीजिए.. मेरे नाम पर इसकी हत्या न कीजिए... बाबा..." क्लो-न्को वह हाँफने सा लगा; आँखें डबडबा आई, कंठ अवरुद्ध होने लगा पर फिर भी भावावेश में वह बोलता ही गया,

“और फिर.. आपने तो इसे बच्चे की तरह पाला है... क्या इसीलिए कि इसे अपने ही हाथों से बलिदान करेंगे... बोलिए न बाबा!... क्या इस प्रकार आप अपने ही बच्चे की हत्या नहीं कर रहे हैं... क्या आपको दया नहीं आती....?”

इतना कहकर वह क्षण भर के लिए मौन हो गया और डबडबाये नेत्रों से प्रश्नभरी मुद्रा में पिता की ओर देखता रहा। पर उनको गर्दन झुकाये चुप देखकर उसकी व्याकुलता और व्यग्रता और भी बढ़ गई और उसने सिरहाने बैठी माँ का पल्ला पकड़ कर अधीर स्वर में कहा,

“माँ!... इसे छोड़वा दीजिए .. आपको बहुत पुण्य होगा... देवी में और श्रद्धा की भूखी है . बलिदान की नहीं....”

पर माँ ने भी उसकी बात का कोई उत्तर न दिया। ज्वर से तप्त उसके मस्तक पर हाथ फेरती हुई चुपचाप आँसू बहाती रहीं। तभी उसके नेत्रों में व्याप्त घोर निराशा और कष्ट से द्रवित होकर दिनेश बाबू ने भीरु किन्तु रूँधे स्वर में धीरे से कहा,

“इतने दुःखी क्यों होते हो... बेटा!... धर्म तो श्रद्धा और विश्वास ही वस्तु है... उसको हर समय तर्क की कमौटी पर परखना ठीक नहीं। अनुप्यता और भावुकता की दृष्टि से बलिदान कैसा भी हो, पर वह एक प्राचीन धार्मिक-परम्परा है... तुम्हारी माँ को उसपर विश्वास और मास्था है... हमें उसका निरादर नहीं करना चाहिए ..”

योगेश चुपचाप उनकी बात सुनता रहा। कुछ बोला नहीं। कमरे में कुछ देर सन्नाटा रहा। फिर दिनेश बाबू ने योगेश की खाट के पास से बकरे से हटाने का इशारा किया। रस्सी खींचे जाने पर वह मिमियाया, और भी योगेश फिर चौंक कर अनुनय भरे स्वर में बोला,

“देखिए, बाबा.. वह रो रहा है... छटपटा रहा है... आपसे आगे प्राणों की भीख माँग रहा है... उसे माँ के मन्दिर मत ले जाइए...”

कहते-कहते वह फिर व्यग्र हो उठा। पर इस बार दिनेश बाबू ने उसे समझाने की चेष्टा नहीं की। चुपचाप, सर झुकाये, बाहर चले गए।

बाहर निकलने पर उन्होंने एक अजीब सी उलझन का अनुभव किया। उनके मन में भयंकर द्वन्द्व मचा हुआ था। एक ओर योगेश का करुण आग्रह था; और दूसरी ओर पत्नी की पुनीत मानता। अपने अपने दृष्टिकोण से दोनों ही ठीक भी लग रहे थे; इसीलिए, स्वस्थ मन से, किसी निश्चय पर पहुँचना उनके लिये असंभव सा हो गया। स्वभाव से धर्म-भीरु होने के कारण योगेश के प्रस्ताव की मनुष्यता से पूरी तरह सहमत होते हुए भी वे खुल कर उसका समर्थन करने में हिचकिचा रहे थे; कुछ भयभीत भी हो रहे थे। पर उनके अन्तर्तम में यही भावना प्रबल होती जा रही थी कि पत्नी ही किसी प्रकार अपना विचार बदल दे और मनुष्यता की इसी भावना से प्रेरित होकर, रात में, डरते-डरते उन्होंने पत्नी से कह ही दिया,

“क्या कहती हो... इस बलिदान से योगेश को अपार पीड़ा पहुँचेगी... उसके कोमल हृदय को बहुत बड़ा धक्का लगेगा... कहो तो हम मानता के विचार को...”

“दुर्गा!... दुर्गा!!...” पत्नी ने उनके मुह पर हाथ रख कर घबराहट भरे तीव्र स्वर में कहा, “कैसी बातें करते हैं आप... इस पुण्य-पर्व पर बलिदान के सम्बन्ध में इस प्रकार का विचार लाना भी महा पाप है... आपको आज हो क्या गया है... क्या आपको योगेश के प्राणों का मोह नहीं है... माँ यदि रुष्ट हो गई तो क्या होगा, इस पर भी कभी विचार किया... योगेश तो अभी बच्चा है... वह इन सब बातों को क्या समझे... पर आप तो बच्चा नहीं हैं... कल सुबह ही माँ की देहली पर जाइये... योगेश का क्या... वह तो ऐसी ही निरर्थक बातें बका करता है...” इतना कहकर उन्होंने प्रश्न भरी आँखों से पति की ओर देखा।

धरती और ध्रुव

दिनेश बाबू, चुपचाप, शून्य में आँखें गड़ाये अपने मानसिक संघर्ष पर विजय पाने की चेष्टा करते रहे। कुछ बोले नहीं। धर्म-संकट बहुत बड़ा था; उनकी बुद्धि चकराने लगी। तभी, उन्हें इस प्रकार चिन्तित और चुप देखकर पत्नी ने फिर प्रश्न किया, “क्या अब भी आपके मन में कुछ द्विविधा है?” “नहीं मैं कल सुबह ही जाऊँगा...” किसी प्रकार यह कह कर उन्होंने पत्नी से पिंड छुड़ाया। वे अच्छी तरह समझते थे कि अध विश्वास के आगे बड़े से बड़ा तर्क बेकार था।

उस रात उन्हें ठीक से नींद न आई। न जाने कैसे-कैसे विचित्र स्वप्न दिखाई देते रहे।

सुबह जब वे खाना हो रहे थे तो उनका साहस न हुआ कि वे योगेश के सामने भी पड़े। उसकी कर्ण-आकृति उनकी आँखों के सामने नाच रही थी; उसके मार्मिक शब्द, रह-रह कर, उनके कानों में गूँज उठते थे।

माँ दुर्गा का मन्दिर, जहाँ मेला लगता था, गाँव से लगभग दस मील की दूरी पर था। इसीलिए दिनेश बाबू अपनी गाड़ी पर खाना हुआ। बकरा, गाड़ी के पीछे, एक डोरी से बंधा, मन मारे, धीरे-धीरे चला जा रहा था। दिनेश बाबू के मन की द्विविधा और उलझन अभी भी वैसी ही बनी हुई थी। शरीर यद्यपि यत्र-चलित की भाँति मन्दिर की ओर चला जा रहा था, पर हृदय में एक तूफान सा मचा हुआ था। रह रहकर मन में यही उठ रहा था, ‘...!... क्या यह परम्परा मिथ्या है... ढोंग है... क्या मैं सचमुच हत्या करने जा रहा हूँ... नहीं! नहीं!!... यह कैसे हो सकता है... यह तो उसकी माँ की पुनीत मानता है... और लाखों मानताओं में बलि दी जाती है... लाखों आदमी तो जानते हुए पाप कर नहीं सकते...’ सोचते-सोचते सहसा उनका ध्यान पीछे मिमियाते हुए बकरे की ओर गया, और वे चोक से पड़े। बकरा अपनी गर्दन छुड़ाने की व्यर्थ चेष्टा से हताश हो कर जोर-जोर से चिल्ला रहा था। क्षण भर को दिनेश बाबू को ऐसा लगा जैसे गाड़ी के पीछे बकरा नहीं वरन योगेश बंधा छटपटा रहा है, और कर्ण स्वर में चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है... “

..मैं प्राणों की भीख माँगता हूँ... बाबा !... मुझे छोड़ दीजिए... मैं बिलकुल निर्दोष हूँ... देवी प्रेम की भूखी है... बलिदान की नहीं...'' सोचते-सोचते एकाएक वे अत्यन्त व्यग्र हो उठे और उन्हें चक्कर सा आने लगा। पर तभी मन्दिर के समीपवर्ती कोलाहल ने उनका ध्यान फिर बंटा दिया, और वे जोर-जोर, अनुनय भरे स्वर में, माँ दुर्गा से आत्मबल तथा आत्मज्ञान के लिए प्रार्थना करने लगे।

मन्दिर के समीप अजीब ही दृश्य था। भीड़ के मारे तिल रखने की जगह नहीं दिखाई देती थी। चारों ओर से भक्तजनों का समूह उमड़ा सा पड़ रहा था—देवी की स्तुति गाता हुआ; भक्ति में सराबोर। पर दिनेश बाबू को यह सब जरा भी आकृष्ट नहीं कर रहा था। ज्यों-ज्यों मन्दिर के समीप पहुँचने लगे उनका अन्तर्द्वन्द्व प्रबल होता गया। बुद्धि कुंठित सी होने लगी। उनके पैर यत्र-चलित की भांति मन्दिर की ओर बढ़ते जा रहे थे, और हाथ, जो उस डोरी को पकड़े हुए था जिसमें बकरा बंधा था, निर्जीव सा होता जा रहा था। भीड़ में बकरा बेतरह मिमिया रहा था और, रह-रहकर, अपनी गर्दन छुड़ाने की चेष्टा कर रहा था। दिनेश बाबू को लगा जैसे वह दहाड़ मार कर रो रहा है। अपने प्राणों की भिक्षा माँग रहा है। उस तमाम कोलाहल के बीच उनके कानों में बस दो ही बातें गूँज रही थीं। योगेश के अनुनय भरे कर्ण शब्द... बाबा !... उसे छोड़ दीजिए . वह निर्दोष है... देवी प्रेम की भूखी है... बलिदान की नहीं...'' तथा पत्नी की भर्त्सना, '... दुर्गा ! दुर्गा !!...कैसी बातें करते हैं आप... इस पुण्य पर्व पर बलिदान के सम्बन्ध में इस प्रकार का विचार लाना भी महापाप है...'

मन्दिर के प्रांगण में एक घेरा सा था जिसके चारों ओर बहुत भीड़ थी। दर्शन करने के पश्चात्, बकरे को खींचते हुए, दिनेश बाबू उसी ओर बढ़े। पर वहाँ पहुँच कर उनको मूर्च्छा सी आने लगी। सारी धरती रक्त से लाल थी। बकरे पर बकरे कटते चले जा रहे थे। चारों ओर गूँजता हुआ देवी के जै जैकार का स्वर भी उन निरीह पशुओं के क्रन्दन को नहीं दबा

पा रहा था। दिनेश बाबू एकाएक घबरा से गए। उन्हें लगा जैसे सारे बकरे एक स्वर में चिल्ला रहे हों, हमें छोड़ दीजिए... देवी प्रेम और श्रद्धा की प्यासी हैं... बलिदान की नहीं... हम निरीह पशु हैं... निर्दोष हैं... हमारी हत्या न कीजिए...' सहसा दिनेश बाबू बहुत उद्विग्न हो उठे। उनका बकरा बुरी तरह से मिमिया रहा था; बारबार रस्सी में छूटने की चेष्टा कर रहा था। तभी बधिक जोर से चिल्लाया,

“लाओ चटर्जी महाराज!... माँ दुर्गा कल्याण करे...” उसका कर्कश स्वर सुनकर गुमसुम खड़े दिनेश बाबू इस प्रकार चौंके मानो उन पर वज्र गिर पड़ा हो। हृदय पर हथौड़े की सी चोट लगी, और सहसा उनके नेत्र छलछला आये; और वे रोप भरे स्वर में चिल्ला कर बोले,

“खबरदार!.. जो मेरे बच्चे को हाथ भी लगाया” और इतना कहकर वे तेजी से मुड़े और बकरे को घसीटते हुए मंदिर के प्रागण से बाहर हो गए। इतनी ही देर में बधिक ने एक दूसरे बकरी के बच्चे का सर धड़ से अलग कर दिया, और सारा मन्दिर माँ दुर्गा के जय-घोष से गूँज उठा।

मन्दिर से बाहर निकल कर दिनेश बाबू क्षण भर भी वहाँ नहीं ठहरे। तेजी से घर की ओर चल पड़े। इस बार बकरा गाड़ी के पीछे नहीं बधा था वरन् गाड़ी के ऊपर दिनेश बाबू के बगल में ही चुपचाप बैठा हुआ था। वे प्यार से उसकी पोठ पर हाथ फेरते जाते, और वह, रह-रह कर, उनकी ओर इस मुद्रा में देखता जैसे कह रहा हो, ‘आपने मुझे प्राणदान दिया.. आप मनुष्य नहीं देवता हैं... मैं आपका उपकार आजीवन नहीं भूलूँगा....’ दिनेश बाबू का अन्तर्द्वन्द्व शान्त हो चुका था; जी हल्का हो गया था। पर ज्यों-ज्यों घर समीप आने लगा उनकी घबराहट फिर बढ़ने लगी। हृदय धक्-धक् करने लगा कि बलि न देने से योगेश का कुछ अनिष्ट न हो गया हो। माँ दुर्गा कुपित न हो गई हों।

जब वे अपने द्वार पर पहुँच गए तो, क्षण भर को इसी संशय के

कारण उनका साहस न हुआ कि भीतर जाकर वास्तविकता का सामना करें। उनके पैर देहली पर रुकने से लगे, और हृदय की धड़कन, एकाएक बहुत तेज हो गई। तभी पत्नी दौड़ी-दौड़ी बाहर आई और उन्हें देखते ही उत्तेजना भरे पुलकित स्वर में बोलीं,

“देखा!... मैंने कहा था न .. मेरी मानता सकल हुई.. देवी न बलि स्वीकार कर ली.. दोपहर से ही योगेश का बुखार कम हो चला है.. माँ दुर्गा की दया हो गई है... अब वह बहुत जल्दी स्वस्थ हो जायेगा..”

पत्नी एक साँस में सब कुछ कह गई, और दिनेश बाबू चुप खड़े सुनते रहे। सहसा उनकी आँखें चमक उठीं और मन ऐसा शान्त हो गया जैसा भयंकर तूफान समाप्त हो जाने के बाद वातावरण। वे योगेश के पास पहुँचने को अधीर हो उठे। तभी गाड़ी में बैठा बकरा कृतज्ञता से मिमियाया तो पत्नी इस प्रकार चमक उठीं जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो, “दुर्गा!... दुर्गा!!... यह आपने क्या किया!... क्या माँ को बलि नहीं चढ़ाई?”

“ठहरो भी तो..” कहते हुए दिनेश बाबू बकरे को लिए हुए योगेश के कमरे की ओर लपके। उनका हृदय विचित्र उल्लास से उछलता सा पड़ रहा था। उनको देखते ही योगेश विचलित हो उठा। तभी बकरा कमरे में घुसा और उसे देखते ही एकाएक अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका। दूसरे ही क्षण उसका विषाद आनन्द में बदल गया, और वह खाट पर उठते हुए पुलकित और उत्तेजित स्वर में बोला,

“बाबा!!... आखिर आपने मेरी बात मान ही ली.. आप कितने अच्छे हैं... कितने दयालु हैं..”

दिनेश बाबू चुपचाप खड़े मुस्कराते भर रहे। तभी बकरा फिर मिमियाया तो वे पुलकित स्वर में बड़े स्नेह में बोले,

“मैंने नहीं.. तुमने इसको प्राणों की भीख दी है, बेटा!... देखो यह कृतज्ञता भरे स्वर में तुम्हें आशिर्वाद दे रहा है..”

“बाबा!... आप कितने दयालु हैं.. कितने उदार हैं..” कहते-कहते योगेश के नेत्रों में आनन्द के आँसू छलछला आये, और उसने अपने

काँपते हाथों के बीच, बड़े दुलार से, दिनेश बाबू का हाथ दबा लिया।

इसके बाद, न जाने कितनी बार दुर्गा पूजा हुई पर चटर्जी परिवार में किसी ने पशुबलि न दी। कई बकरे अब भी दिनेश बाबू के पास हैं, और वे उन्हें उतना ही प्यार करते हैं जितना योगेश को।

आप का रेस्तराँ

जब कभी मैं बाजार की ओर जाता तो “आप का रेस्तराँ” में जाना न भूलता था। चौबीस घंटों में कभी भी एक बार वहाँ पहुँच जाना मानो मेरी दिनचर्या सी हो गई थी। बाजार के एक कोने में स्थित छोटा-सा रेस्तराँ कोई शानदार जगह न थी कि लोग बरबस ही वहाँ पहुँच जाते, पर फिर भी वहाँ कुछ ऐसा आकर्षण था कि एक बार जा कर मैं फिर बराबर ही वहाँ जाता रहा। और वह आकर्षण था मनुष्यता का। उसका मालिक एक सीधा-सादा, ईमानदार आदमी था। वह स्वभावतः इतना हसमुख और मिलनसार तथा आचरण में शिष्ट था कि अकारण ही उससे बात-चीत करने की इच्छा होती थी। पहले दिन ही उसकी सरलता ने मुझे इतना मोह लिया कि मैं उसकी ओर बरबस ही खिंचता चला गया। वह औसत कद और इकहरे बदन का सीधा-सा आदमी था। बात इतनी मीठी और सम्म्यता-पूर्ण करता था कि एक बार जो भी उस रेस्तराँ में गया वह फिर वहाँ बार-बार ही जानें लगता। छल-प्रपंच और चालाकी उससे कोसों दूर थी। और मैं ऐसे आदमियों को बहुत ही अधिक पसन्द करता था।

इसके अतिरिक्त उसके यहाँ सामान भी अच्छा और बाजार से सस्ता

मिलता था। उसकी चाय और पकौड़ियाँ तो किसी हद तक विख्यात भी कही जा सकती थी। अकेला ही आदमी सारा सामान बनाता और दूकान चलाता था। वह स्वयं ही मालिक, मैनेजर और “ब्वाय” भी था। कभी-कभी मैं हंसी में कहता, “क्यों जी ! तुम्हें क्या कह कर पुकारा कलूँ—मालिक, मैनेजर या “ब्वाय”? उत्तर में वह हंस पड़ता और कहता, “जो आपको अच्छा लगे वही पुकारिए !.... मेरा काम तो बस ग्राहकों की सेवा करना है।”

बाबू का परिवार छोटा-सा ही था... उसके अतिरिक्त उसकी पत्नी थी और रेनू... उसकी लड़की। छः-सात साल की उसकी उमर थी, और भोली-भाली प्यारी-सी सूरत। दूकान भर में फुदकती फिरती थी। बाबू दूकान का काम भी करता जाता और उसको पढ़ाता भी जाता। वह पढ़ने के साथ ही साथ दौड़-दौड़ कर काम में उसका हाथ भी बटाती, ग्राहकों से उलझी रहती तथा उन्हें उलझाये रहती। मेरी तो उससे अच्छी खासी दोस्ती हो गई थी। कभी-कभी मैं उसे पैसे भी दे दिया करता था, इस कारण मुझसे वह ओर भी अधिक हिल गई थी। मैं अक्सर बाबू से कहता, “देखो बाबू ! रेनू को खूब पढ़ाना-लिखाना.. यह बड़ी होनहार बच्ची है... जब पढ़-लिख कर बड़ी हो जायेगी तो इसकी बड़ी अच्छी शादी कराऊँगा।” और उत्तर में वह कहता “आपकी मेहर-बानी है, बाबू जी, जो गरीबों का इतना ख्याल रखते हैं.. आप पढ़ाने-लिखाने और अच्छी शादी कराने की बात कहते हैं सो तो भर सक कलूँगा ही।... पर आप मेरी आमदनी क्या समझते हैं ? कोई बड़ा परिवार नहीं है, फिर भी सिर्फ पेट भरने को ही कमा पाता हूँ...”

इसपर मैं दिलासा देता हुआ कहता, “निराश होने और घबड़ाने की तो कोई बात नहीं है, बाबू !... तुम सद्गृहस्थ हो... तुम्हारे संकल्प महान हैं... भगवान पर भरोसा रखो... वह तुम्हारी अवश्य सहायता करेगा”

“हाँ साहब ! उसी मालिक के सहारे ही तो हम जैसे लोग जीवित

है, वरना हम लोगों को जीने में क्या आकर्षण है ?” वह ठंडी साँस भर कर अक्सर कहा करता।

इसी प्रकार मैं बाबू से तरह-तरह की बातें किया करता.. रोजमर्रा की, पारिवारिक और भविष्य की। कभी-कभी उधर से गुजरते समय जब रेस्तराँ में जाने का अवकाश न रहता तो चलते-फिरते ही बाबू से दुआ-सलाम हो जाती। इन अवसरों पर भी रेनू मेरा पीछा न छोड़ती। कूदती-फादती सड़क पर आ कर रास्ता रोक लेती और मेरी बांह पर झूलती हुई मान भरे स्वर में कहती, “आज क्या दुकान पर नहीं चलिआगा.. आज तो आप ये बताने को कह गये थे कि मेरी समुराल कैसी है... और फिर बिना बताये ही चले जा रहे हैं...” और तब मेरा उससे पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता। मैं लाख बहाने करता, उसको फुसलाने की चेष्टा भी करता, पर सब व्यर्थ। यदि मैं जिद करता तो वह वहीं सड़क पर मचल कर रोने लगती, और तब मुझे विवश होकर उसके साथ रेस्तराँ तक जाना ही पड़ता।

इस प्रकार मैं एक रेस्तराँ वाले के परिवार से ऐसा घुल-मिल गया था जैसे उमी के परिवार का एक सदस्य हूँ। बाबू भी मुझे अपने बड़े भाई के समान मानता था और सुख-दुख की सभी बातें किया करता था। मेरे लिए उस रेस्तराँ में अनेक आकर्षण थे। बाबू था, रेनू थी, और थी उसकी गरम चाय और पकौड़ियाँ। और यही कारण था जो उसके साथ घर का सा व्यवहार हो गया था। कभी जब वह बहुत कष्ट में होता तो मेरे पास निसकोच चला आता और मैं भी अपने भरसक रुपये पैसे से उसकी सहायता कर देता था। काम हो जाने पर वह निहायत ईमानदारी से उसे वापस भी कर देता था। इस प्रकार उस छोटे से परिवार ने मेरे जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

एक दिन नगर में एक ऐसी दुर्घटना घटी जिससे मुझे महान कष्ट हुआ। उस दिन शाम को करीब सात बजे होंगे। मैं रेस्तराँ में बैठा बाबू से बातें कर रहा था और कुछ खा भी रहा था कि एकाएक सड़क पर

“आग !.. आग !... भागो !! .. भागो !!....” का शोर सुनाई पड़ा। चौक कर मैं बाहर झपटा तो क्या देखता हूँ कि बाबू के रेस्तराँ से पीछे वाली एक दुकान में भयकर आग लगी हुई थी। मैंने चिल्लाकर बाबू को सूचित किया पर जब तक घबराहट में हम लोग यह तय कर पाये कि क्या करें, तब तक तेज चलती हुई हवा के सहारे आग की लपटें रेस्तराँ तक पहुँच गई। ऐसी स्थिति में हम लोगों के हाथ पैर फूल गये। इतनी तेज हवा में आग पर काबू पाना असंभव ही था और, फिर देखते-देखते, बाबू की सारी दौलत, ओर उसी के साथ उसकी सम्पूर्ण आशाये जल कर भस्म हो गई। मैं एकाएक घबरा गया। आग की लपटें बाजार भर में फैलती गई, और लोग उसपर काबू पाने में व्यस्त हो गये। इधर विक्षिप्त-सा बाबू सड़क पर बैठा अपने भाग्य को कोस रहा था। उसके बगल में थोड़ा सा सामान पड़ा था, जो वह भस्म होती हुई दुकान से किसी प्रकार बाहर निकाल पाया था। रेनू बेहद सहमी हुई थी और जोर-जोर से चीख रही थी। बाबू की पत्नी गठरी सी बनी एक तरफ बैठी थी। बहुत देर तक मेरी समझ में ही न आया कि उन अभागों को किस प्रकार साँत्वना दूँ। खैर, किसी तरह समझाया-बुझाया और पास ही की एक धर्मशाला में पहुँचा दिया और खर्चों के लिये कुछ रुपये देकर घर वापस लौट आया। उस दुर्घटना के कारण मैं बहुत उदास रहा। सारी रात बेचैनी और उलझन के कारण नीद नहीं आई।

रात भर चिन्ता लगी रही इस कारण सुबह ही उठ कर बाजार की ओर गया। बहुत दूर तक एक कतार में दुकानें भस्म हो चुकी थीं, और लोग भीड़ लगाये वही आस-पास मडरा रहे थे। जिनका सर्वस्व स्वाहा हो गया था वे वहीं पर बैठे अपने दुर्भाग्य को कोस रहे थे और आँसू बहा रहे थे। “आपका रेस्तराँ” का नामोनिशान तक न था। यह देखकर मुझे एक सदमा सा लगा। देखा, बाबू भी वही मलवे में कुछ ढूँढ़ रहा था। मैंने उसकी पीठ पर हाथ रखते हुए साँत्वना भरे

स्वर में कहा, “, क्या कर रहे हो बाबू !... अब क्या रक्खा है यहाँ ?” उसने मेरी ओर करुण दृष्टि से देखा और फूट-फूट कर रो पड़ा, “मेरा तो संसार ही उजड़ गया बाबू जी !... सर्वस्व लुट गया... अब मैं कैसे जिऊँ और कैसे अपने बाल-बच्चे जिलाऊँ.. भगवान की न जाने क्या मरजी है” कहते कहते उसकी हिचकियाँ बध गई।

बड़ी मुश्किल से मैंने उसे साँत्वना दी और थोड़ी हिम्मत बंधाई। कुछ रुपये भी दिये जिससे वह जहाँ जाना चाहे जा सके और कुछ दिन आराम से खा-पी सके। और फिर जब दो-एक गठरियों में अपनी बची हुई सारी सम्पदा बाँध कर वह धर्मशाले से निकला तो मेरी आखे भर आई। वह भी भर्राई आवाज में बोला, “अगर जीता रहा तो अवश्य ही कभी न कभी आपके दर्शन करूँगा.. आपका यह उपकार मैं जीवन भर नहीं भूल सकता...” कहते-कहते वह फूट-फूट कर रो पड़ा। इधर मुझसे लिपटी रेनू अलग बिलख रही थी। सिसकियाँ भरती हुई बोली, “तुम भी मेरे साथ क्यों नहीं चलते ? .. मैं अकेली कैसे रहूँगी..” मैंने आँसू पोछते हुए उसे समझाया, “देख, तेरे ब्याह मे मैं जरूर आऊँगा. ओर हाँ.. .तब तक खूब तबियत लगा कर पढ़ना..” और फिर घूम कर बाबू से बोला, “देखो बाबू !... इसकी पढ़ाई में.. . जरा भी लापरवाही न करना —”

मेरी बात सुन कर उसने लम्बी साँस लेते हुए उत्तर दिया, “अब तो सर्वस्व लुट गया.... बाबू जी ! अब आप की इच्छा कैसे पूरी होगी समझ में नहीं आता।”

खैर, किसी प्रकार रोती-बिलखती रेनू और सिसकते हुए बाबू से विदा लेकर मैं घर लौट आया। कई दिन तक तो मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगा, और मैं बजार की ओर गया ही नहीं। रह रह कर बाबू की बातें और रेनू की चंचलता याद आ जाती और मेरा मन भारी हो जाता। यह सोच कर कि बेचारे जहाँ भी होंगे बहुत बुरी दशा में होंगे, मुझे बहुत दुःख होता था।

पर धीरे-धीरे समय की गति ने सब कुछ भुला दिया ! बाबू और उसका परिवार मेरे लिए एक धुधली स्मृति मात्र बन कर रह गया। इसी बीच मेरी नौकरी भी लग गई और मुझे भी शहर छोड़ कर दूसरी जगह जाना पड़ा। इस प्रकार मैं “आप का रेस्तराँ”, उसके मालिक बाबू और उसकी बच्ची रेनू को बिल्कुल ही भूल गया। और पता नहीं, वहाँ से जाने के बाद, उन लोगों का क्या हुआ।

इसके बाद, नौकरी के सिलसिले में मैं एक जगह से दूसरी जगह स्थानान्तरित होता रहा। आठ साल की नौकरी में पाँच स्थानों का चक्कर लगाना पड़ा। पर जब कभी अपनी रश्मि की पढ़ाई-लिखाई की बात-चीत चलती तो मुझे रेनू की धुधली सी याद आजाती और मेरा मन कुछ भारी हो जाता।

अब जिस बात की मैं चर्चा कर रहा हूँ वह, “आप का रेस्तराँ” वाली घटना से दस साल बाद की है। एक दिन शाम को सायकिल से, दफ्तर से घर वापस लौट रहा था। उस दिन आफिस में मेरी तरक्की की कुछ चर्चा हो रही थी, इस कारण मन ही मन बहुत प्रसन्न भी था, और तरह-तरह की स्कीम बनाता हुआ चला जा रहा था कि एकाएक सामने जो देखा उससे और भी अधिक प्रसन्नता हुई। सामने से “आपका रेस्तराँ” वाला वही बाबू चला आ रहा था। खूब साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए था और देखने में काफी खुशहाल लगता था। मैंने जोर से आवाज दी तो वह एकाएक चौक पड़ा। तब तक मैं सायकिल से उतर पड़ा था। बाबू मुझे देख कर निहाल हो गया। ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे उसे कोई निधि मिल गई हो। मुझे भी इतने वर्षों बाद बाबू से इस प्रकार अप्रत्याशित रूप से मिल कर बहुत प्रसन्नता हुई और एक के बाद एक सभी पुरानी बातें चल-चित्र की भाँति चक्कर काट गईं। मैंने प्रेम से उसका हाथ दबा कर उल्लास भरे स्वर में पूछा, “वाह ! खूब मिले बाबू !! यहाँ क्या करते हो ?” उसने नम्रता से उत्तर दिया, “यहीं बगल की गली में फिर एक छोटा सा रेस्तराँ खोल लिया है और किसी तरह गुजर कर रहा हूँ”

फिर काफी देर तक बातें होती रहीं। और जब उसने मुझे से प्रार्थना की कि मैं उसके रेस्तरां तक चलूँ तो मैं टाल न सका।

पक्की सड़क से थोड़ी दूर हट कर, एक गली में, उसकी दुकान थी—वही “आपका-रेस्तरा”। देख कर मुझे बहुत ही खुशी हुई। पर इस बार रेस्तरां पहले से कुछ बड़ा था और उसमें दो नौकर भी थे। उसने मेरे मना करने पर भी बहुत सी चीजें मुझे खिलाई और तरह-तरह की बातें करता रहा। बातों के बीच मैंने उस से उसके परिवार के विषय में पूछा और कहा, “रेनू का तो ब्याह कर दिया होगा—खूब पढ़ा-लिखा दिया था न ?”

“कहाँ बाबू जी !” उसने गंभीर स्वर में उत्तर दिया, “जब से आप से अलग हुआ मेरी बड़ी बुरी हालत रही। खाने-पीने का भी ठिकाना न रहा। बेचारी औरत फाका कर-कर के मर गई, और नन्हों रेनू को मेरे सर पर छोड़ गई। कई बार सोचा कि उसको मार कर अपना भी गला घोंट लूँ; पर साहस न हुआ। प्राणों के मोह ने हाथ थाम लिया और फिर हर तरह से जीवित रहने की चेष्टा की और आज, आप की मेहरबानी से, आपके सामने जिन्दा बैठा हूँ। रेनू भी मेरे साथ ही है। गरीबी में पढ़ाता-लिखाता कैसे। सवाल तो किसी तरह जिन्दा रहने का था। और फिर, एक गरीब की लड़की से शादी कौन करता... बेचारी अभी तक कुंवारी ही बैठी है....”

तभी मैंने कहा, “अब तो सयानी हो गई होगी—मुझे पहचानेगी भी नहीं... वह तो पहले ही बड़ी गरीब थी...”

“वाह ! भला आप को नहीं पहचानेगी...” कह कर उसने रेनू को आवाज दी।

मैंने फिर पूछा, “यहीं रहते भी हो, क्या ?”

उसने कहा, “हाँ ! इसी मकान की दूसरी मंजिल पर हम लोग रहते भी हैं।”

इतने में रेनू आई और उसके साथ एक दूसरा आदमी भी। उसने

सामने आते ही बाबू से कहा, “जरा देर हो गई तैयार होने में, अभी लिए जाता हूँ...”

सुन कर बाबू का चेहरा सहसा फक पड़ गया। उसने उस आदमी को कुछ इशारा किया और वह तुरन्त वहाँ से चला गया। रेनू मुझे देख कर एकाएक भीतर भागने लगी। तभी बाबू ने कड़ी आवाज में कहा, “अरे भागती कहाँ है... इन्हें नहीं पहचानती? ... देख तो कौन हैं।”

बाबू का कड़ा स्वर सुन कर वह रुक गई। एक बार मेरी ओर अपराधी की भाँति देखा और सहसा उसके आँसू छल-छला आये। मैंने मुस्करा कर कहा, “अरे रेनू! ... रोती क्यों हो? ... आज इतनी खुशी का दिन है और तुम्हारी आँखों में आँसू... छी...! ...” क्या मुझे पहचानती नहीं? ...”

वह सर झुकाये मूर्ति बनी खड़ी रही; कुछ बोली नहीं! तभी बाबू ने उस से ऊपर जाने को सकेत किया और मुझ से हँस कर बोला, “बड़ी हो गई है न? ... इसी लिए आप को देख कर शर्मा रही है...”

फिर कुछ देर बातें करने के बाद मैं चलने को उठ पड़ा। जब मैं पैसा देने लगा तो उसने नहीं लिया। खैर। मैंने जिद नहीं की और चला आया। उससे भेट होने पर मन में जो खुशी हुई थी, वह उसके यहाँ से लौटने पर न थी। रास्ते भर एक अजीब सी उलझन लग रही थी। बाबू का व्यवहार पहले जैसा निश्चल न था। उसके व्यवहार में बहुत बनावट आ गई थी। देखने में अजीब काइयाँ और चालाक सा लगता था। और अब, “आप का रेस्तराँ” पहले जैसा न था। वहाँ पहले वाले शान्त और घरेलू वातावरण की झलक भी न थी। वह आदमी जो रेनू के साथ मेरे सामने आया था न जाने कौन था। मेरी कुछ समझ में न आया। देखने में वह आदमी पूरा बदमाश और गुण्डा सा लगता था। उसकी दूकान के दोनों नौकर भी चोर उचक्के जैसे ही लगते थे। रेनू की हुलिया भी अजीब सी थी। ऐसी सजी हुई थी जैसे किसी बहुत बड़े घर की बेटा हो। वह सुन्दरी अवश्य थी पर उसमें मुझे लज्जा और संकोच का अभाव

सा जान पड़ा। इसी के साथ-साथ, बाबू कहता था कि वह किसी तरह गुजर कर रहा था। वास्तविकता और कथन में कितना विरोधाभास था। मैं यही सब सोचते-सोचते काफी उलझन में पड़ गया।

दस-पन्द्रह दिनों के बाद मैं फिर एक बार बाबू के रेस्तरा में गया। उस समय वह वहाँ नहीं था। नौकर ने मुझे बैठा कर पूछा—“क्या लाऊँ—बाबू जी?”

मैंने पूछा, “तुम्हारे मालिक कहाँ गये?”

उसने जवाब दिया, “वे तो आज कहीं बाहर गये हैं... देर से लौटेंगे।”

मैंने फिर पूछा, “रेनू भी उनके साथ गई है, क्या?”

“नहीं साहब! ... बाई जी तो ऊपर हैं ... क्या मुलाकात करेंगे? ... देखिए, धीरे-धीरे बातें करिए, नहीं तो मेरी जान पर बन आयेंगी... आज रफीक भी मालिक के साथ ही गया है। अगर... (उसने सौदा करने की नियत से दस उगलियाँ दिखाईं) दे तो मैं चुपके से मुलाकात करवा दूँ.....।

मैंने बीच ही में बात काट कर जेब से नोट निकालते हुए कहा; ‘अच्छा यह लो नोट और मुझे बाई से मिलवा दो...’

मेरा कौतूहल बंध बढ़ गया था।

वह चुपके से मुझे ऊपर ले गया और एक कमरे की ओर सकेत करके फिर नीचे उतर गया। मैं डरते-डरते अन्दर घुसा। एक खाट पर रेनू पड़ी थी। उसके हाथ, पैर, और मुह बंधे थे। मुझे देखते ही वह सकपका गई। मैंने उसे ढाढस देते हुए कहा, “डरो मत रेनू..... मैं तो तुम्हारे पिता के समान हूँ... और इस समय तुम्हारी सहायता करने आया हूँ...” उसकी यह दशा देख कर मेरा कौतूहल चरम सीमा तक पहुँच चुका था।

और फिर मैंने उसे बन्धन मुक्त किया।

हाथ-पैर खुलते ही वह दूर हट कर खड़ी हो गई और गिड़गिड़ाती

हुई बोली, “देवता ! आप मुझे मत लुझ्ये ... मैं वेश्या हूँ . अपवित्र हूँ । मेरे सम्पर्क मात्र से ही आप कलकित हो जायेंगे ।...” कहते-कहते उसकी आँखें भर आई ।

मैंने समझा-बुझा कर किसी प्रकार जब उसे शान्त किया तब वह सिसकती हुई बोली, “पहले जब आप मेरे यहाँ आते थे तब और ही दिन थे । आग से उजड़ जाने के बाद हम लोगों को बड़ा कष्ट रहा । मेरी माता मर गई, और हम लोगो को पेट भर खाना मिलना दूभर हो गया । बाबू जी ने कई बार आत्महत्या करने का भी प्रयत्न किया । उस समय मेरी अवस्था लगभग सत्रह साल की रही होगी । ऐसे सकट के समय रफीक ने हम लोगों की बहुत सहायता की । पर मैं न समझती थी कि इंसान के चोले में वह एक शैतान है । धीरे-धीरे मेरे पिता उसके चंगुल में फँसते गये । शराब, कबाब, जुआ, चोरी इत्यादि सब दुर्गुण उन सीधे साधे बाबू जी में आते गये । उनका पुराना दृष्टिकोण बिल्कुल बदल गया, और वे भी उन्हीं सब बातों को जीवन का ध्येय समझने लगे । और फिर, धीरे-धीरे, मुझे भी इस तरह का नारकीय जीवन व्यतीत करने पर बाध्य किया जाने लगा । मैंने विद्रोह किया, तो मेरे साथ दुर्व्यवहार किया गया । मेरे पिता के सर पर तो जैसे शैतान मवार हो गया था । रफीक जिस प्रकार उन्हें चलाता था वैसे ही वे चलते गये । फिर उन्होंने स्वयं मुझे बाध्य किया कि मैं वेश्या का जीवन व्यतीत करूँ । मैंने हर बार विद्रोह किया और हर बार, डरा धमका कर, मुझे दुराचरण पर विवश किया गया । और अब मैं ही इस परिवार की जीविका का आधार हूँ .. ” कहते-कहते वह रो पड़ी । मैं क्रोध, क्षोभ, और ग्लानि से गड़ा जा रहा था । मस्तिष्क में तरह-तरह के प्रश्नों की झड़ी सी लग गई । और मैं मन ही मन सोचने लगा—“क्या एक सीधा-सादा आदमी जीवन के क्रूर थपेड़ों से ऐसा पिशाच हो सकता है ... क्या एक पिता ऐसा नीच कर्म कर के भी जीवित रह सकता है ... ” सोचते-सोचते मेरा सर चक्कर खाने लगा । रेनू ने मुझसे आँखें नहीं मिलाई । बंचारी अपने दुर्भाग्य पर आँसू

आप का रेस्तराँ

पैसठ

बहाती रही। मैं स्तब्ध था। मेरी विचार-शक्ति लुप्त सी हो गई थी।
तभी रेनू ने संकोच भरे स्वर में कहा,

बाबू जी ! ... आप मुझ अभागिन के लिए क्यों दुखी होते हैं...
मेरा तो ऐसा दुर्भाग्य है कि मुझे मरने भी नहीं दिया जाता ... जिसका
पिता ही ऐसा पिशाच है वह असहाय लडकी क्या करे ... आप इस दूषित
वातावरण से हट जाइये ... अपना चित्त अशान्त न कीजिए ... जीवन
के बहुत से पहलू हैं ... मेरी जैसी हजारों लडकियाँ पड़ी हैं जो समाज
के कुटिल चक्र में पिस रही हैं ... मैं आप से प्रार्थना करती हूँ—आप
यहाँ से दूर चले जाइये .. मुझ अभागिन के लिए चिन्तित न होइये ...।”

वह बात पूरी भी न कर पाई थी कि नौकर घबड़ाया हुआ ऊपर
आया और जल्दी-जल्दी बोला, “साहब ! ... जल्दी नीचे चलिए...
मालिक आ रहे हैं ... जान पायेंगे तो मुझे जान से मार देंगे ... जल्दी
करिए ... बाबू जी ! ...”

एक क्षण मैं स्तब्ध सा बैठा रहा। तभी रेनू घबड़ा कर उठ बैठी।
“बाबू जी !!” वह सकपकाकर बोली, “आप जल्दी नीचे चले जाइये...
मचमुच वह राक्षस है—यदि वह जान लेगा कि आप यह भेद जानते हैं
तो वह आपकी जान के पीछे पड़ जायेगा। मैं नहीं चाहती कि इस कलकनी
के कारण आप पर जरा भी आँच आये ... आप इस घटना को भूल जाइये ..
मैं स्वयं छुटकारा पाने की ताक मे हूँ ... मौका मिलते ही इस अधम शरीर
का अन्त कर दूँगी ... आप जैसे देवता ने मुझे आत्मबल दिया ... यह आप
का उपकार है ... मुझ अभागिन के विषय में यही समझ लीजिए कि जब
तक मौत नहीं आती यह अधम शरीर पितृ-ऋण चुका रहा है।”

मैं एकाएक उठ खड़ा हुआ। उसने झुक कर मेरे चरणों पर अपना
मस्तक रख दिया और दो गरम-गरम आँसू चुप-चाप टपक पड़े। मैं भी
अपने हृदय के आवेग और आँसुओं को न रोक सका, और बिना उसकी
ओर देखे हुए ही, चुप-चाप नीचे उतर गया।

जब मैं रेस्तरां से निकल कर आगे बढ़ा तो तीन चार गुण्डों के साथ

आता हुआ बाबू दिखाई पड़ा। उसने देखते ही सलाम करके तपाक से कहा, “अरे साहब ! ... कहाँ चले... चलिए जरा गरीबखाने पर हो लीजिए... कुछ जल-पान करके जाइयेगा... रेनू आप को बहुत पूछा करती है... !”

मैंने उस पिशाच से आँखें भी न मिलाई और बिना कुछ उत्तर दिए ही तेजी से आगे बढ़ गया। रास्ते भर मेरी उलझन, क्षोभ, क्रोध और कष्ट का पारा-वार न रहा।

कुछ महीनों के बाद मेरी तरक्की हो गई और मैं दूसरे शहर चला गया। धीरे-धीरे आपका रेस्तरा की घटना फिर मेरी स्मृति में धुधली पड़ने लगी। पर अब भी, जब कभी, मैं बाबू और रेनू को याद करने की कोशिश करता हूँ तो घृणा और कष्ट से मेरा मन न जाने कैसा हो जाता है।

दोषी कौन

कुमारिल की बारात जब बहू को साथ लेकर वापस लौट रही थी, तो वह प्रसन्न तो अवश्य था; पर रह रह कर कुछ अनमना सा हो उठता था। उसके जैसा मस्त, विनोदी और मनचला युवक ऐसे अवसर पर अनमना सा रहे, यह बात उसके मित्रों को कुछ अनहोनी सी लगी और इसी कारण वे बार बार उसे तरह तरह से छेड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। पर उस समय उनकी बातें उसे अच्छी नहीं लग रही थी।

रात काफी बीच चुकी थी। गाड़ी तेज रफ्तार से भागी चली जा रही थी। अधिकतर बराती नींद में बेसुध से एक दूसरे के ऊपर लुढ़के पड़ रहे थे। साथ की स्त्रियाँ भी ऊँच रही थी। पर कुमारिल और उसके कुछ विनोदी मित्र जाग रहे थे। दूसरे कोने पर कुछ चंचल युवतियों से धिरी हुई नयनतारा भी कदाचित्त जाग ही रही थी। धीरे-धीरे एक के बाद एक, उसके मित्र भी नींद के शिकार होने लगे; पर वह उसी तरह जागता रहा। मस्तिष्क की उलझन और अन्यमनस्कता उसके चेहरे पर स्पष्ट थी। वह कभी नयनतारा की ओर देखता और कभी खिड़की के बाहर शून्य अन्धकार में। डिब्बे की धीमी रोशनी उस शिथिल मनोदशा में उसे बहुत बुरी लग रही थी। उसके मस्तिष्क में तरह तरह के विचार तेजी

से चक्कर काट रहे थे।

वह अपने नये जीवन के बारे में सोच रहा था; अपने बारे में, और अपनी पत्नी के बारे में..... 'अब अच्छा है.... लोग मुझे हिंकारत की निगाह से तो न देखेंगे.... मेरा विवाह हो गया है.... मैं गृहस्थ हो जाऊँगा.... अब कैसे लोग मुझे आवारा कहेंगे? ... लेकिन ये बधन.... यह जिन्दगी भर का जजाल..... जीवन को कितना नीरस बना देगा! ऊह! मैं तो पहले की तरह मस्त रहूँगा.... पर क्या नयनतारा इसे पसन्द करेगी? न करे! ... मैं क्या उसका दास होकर रहूँगा! मेरी किमी बात में दखल देगी तो खुद फल पायगी!' सोचते-मोचते थककर कुमारिल सो गया। नींद उसकी तब टूटी जब घर का स्टेशन बिल्कुल पास आ गया था।

जब तक कुमारिल और नयनतारा के बीच, नये होने के नाते, थोड़ा शिष्टाचार सा रहा, तब तक तो दोनों में खूब पटी और कुमारिल ने उसे खूब पसन्द भी किया? पर ज्यों ज्यों उन दोनों का सामीप्य बढ़ता गया और शिष्टाचार की दीवार धीरे-धीरे ढहकर गिरती गयी, त्यों त्यों कुमारिल का मन उससे उचाट होता गया। कुमारिल का बीता हुआ स्वच्छद जीवन फिर उसे अपनी ओर खींचने लगा और वह धीरे-धीरे नयनतारा की ओर से उदासीन सा होने लगा। सरल और हँसमुख नयनतारा के सुन्दर मुख पर विषाद के बादल छा गये।

कुमारिल की शामें बाहर बीतने लगी और रात को जब वह घर लौटता तो कभी कभी उसके मुह से मदिरा की दुर्गन्ध आती रहती थी। नयनतारा की इच्छा हुई कि वह उसके मदिरापान का विरोध करे; किन्तु वह उससे कुछ कहने का साहस न कर पायी क्योंकि उसके मीठे से मीठे उलाहने पर भी कुमारिल आपे से बाहर हो जाता था।

एक दिन कुमारिल सबेरे चार बजे नशे में झूमता हुआ घर लौटा। नयनतारा जाग रही थी। उसकी आँखें रोते रोते लाल हो गई थी। सारी रात उसने खिड़की के पास कुर्सी पर बैठे बैठे काटी थी। दुःख का

आवेग बढ़ने पर वह कुर्सी के हथिये पर जोर से माथा पटक कर कह उठती “हाय भगवान ! मेरे भाग्य में तूने यही सुख लिखा था ?” सीढ़ी पर कुमारिल के पैरों की आहट पाकर उसने उठकर द्वार खोल दिया। उसने चाहा कि वह चुपचाप अपनी खाट पर पड़ रहे; लेकिन नशे के कारण लड़खड़ाते हुए कुमारिल की विलासी आकृति देखकर वह घृणा से सिहर उठी उसके रेशमी कुर्ते पर जगह जगह कथे के दाग पड़े थे, जूते के फीते खुले हुए थे; बाल अस्त व्यस्त थे। उसने भीतर घुसते ही घूर कर नयनतारा को देखा, फिर अपनी खाट पर जोर से बैठकर जूता उतारने लगा। नयनतारा ने तीखे स्वर में पूछा—

“बहुत जल्दी लौट आये आप ! अभी तो चार ही बजे हैं।” नयनतारा की बात कुमारिल को तीरसी लगी। उसने चिढ़ कर उत्तर दिया—

“चार बजे आये हैं तो क्या ? तेरे बाप का घर है यह ? जिस समय हमारा मन चाहेगा, आएँगे; तू रोकने वाली कौन होती है ?” नयनतारा के दुःखी मन को और भी ठेस लगी। उसने व्यथित होकर कहा—

“हाँ ! मैं कौन हूँ आपको रोकने वाली ! मैं तो सिर्फ इसलिये लाई गई हूँ कि दिन भर आप लोगों की सेवा करूँ और रातभर अपने ग्य पर आँसू बहाऊँ !”

कुमारिल ने गरज कर कहा “चुप रह ! देखता हूँ तेरी जुबान बहुत खलती जा रही है ! मैं कहाँ जाता हूँ, क्या करता हूँ इससे तुझे कोई मतलब नहीं। कान खोल कर सुन ले। अगर आगे कभी मेरी बातों में दखल दिया तो तेरी जीभ खींच लूँगा।”

उसका यह रुख देखकर नयनतारा अचम्भित रह गई। उसे अपने पति से इस प्रकार के व्यवहार की स्वप्न में भी आशा नहीं थी। वह फूट फूट कर रोने लगी। पर कुमारिल पर उसकी इस मनोदशा का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसने नयनतारा की तरफ पीठ करके चादर ओढ़ ली और दो एक मिनट में ही खराटे भरने लगा।

इस घटना के बाद से कुमारिल नयनतारा के प्रति और भी उदासीन

रहने लगा। वह कभी उससे बोलने का साहस भी करती तो कुमारिल झल्ला पड़ता और उसे उल्टी-सीधी बातें सुना देता। एक और परिवर्तन उसके व्यवहार में आने लगा; वह यह था कि अभी तक पत्नी के प्रति उसकी जो उपेक्षा और झुझलाहट कभरे तक सीमित थी, उसका सार्वजनिक प्रदर्शन होने लगा। हर किसी के सामने ही वह अपनी पत्नी का उपहास करता और उसको अपमानित करने का अवसर ढूँढ़ता रहता। नयनतारा ने सहनशीलता से सब कुछ सहा, किंतु हर बात की सीमा होती है। उसके धैर्य का बाँध टूट गया और भविष्य में उसे अधिकार ही अधिकार दिखाई देने लगा।

यही तक नयनतारा का दुर्भाग्य सीमित रहता तो कदाचित्त वह साहस बटोर कर कुमारिल को राह पर लाने का प्रयत्न करती। किंतु पति के उदासीन होते ही घरवालों का नितान्त असन्तुष्ट हो जाना स्वाभाविक ही था। सास आये-दिन ताने देती—“न जाने कैसी कुलच्छनी है! बेचारे कुमारिल से ऐसा लड़ती-झगड़ती रहती है कि उसका घर ही से मन उचाट हो गया है। न जाने अपने को क्या समझती है कि किसी से बात तक नहीं करती। जब से आई है, मेरे घर की तो जैसे रौनक ही नष्ट कर दी....”

ससुर कहते “मैंने तो पहले ही कहा था कि उस घर के रंग-ढंग अच्छे नहीं हैं... लेकिन कुमारिल की माँ किसी की सुने तब तो! कुछ मिलना-मिलाना तो दूर रहा, लड़की भी न जाने कैसी दी जो हर समय गम-सुम रहती है.....”

लेकिन नयनतारा चुपचाप मशीन की तरह काम किये जाती। न किसी से कुछ कहती, न सुनती। धीरे-धीरे कुमारिल को राह पर लाने की बात भी वह भूल सी गई। केवल आँखें फाड़े चुपचाप सबके व्यग और अपमान झेलती रहती, मानों किसने, कब, क्या कहा, यह सब उसकी समझ के बाहर हो चुका था।

इस दशा में जो होना था, वही हुआ। नयनतारा सोच ही सोच में

घुलने लगी। जीवन उसके लिये असह्य हो गया। अंधकारमय भविष्य से लड़ने की उसकी शक्ति का दिन पर दिन ह्रास होने लगा और धीरे-धीरे उसने खाट पकड़ ली।

इस दशा में भी किसी ने उसकी परवाह न की। बस घर के कोने की एक कोठरी में पड़ी-पड़ी वह अपने दिन गिना करती। कोई कभी उधर से निकलता तो हाल पूछ लेता; नहीं तो किसी को इतना भी अवकाश न था कि उस दुखिया के प्रति सहानुभूति दिखा कर उसे कुछ बल दे सके! कुमारिल को तो जैसे उससे कोई सरोकार ही न था। कभी भूले-चूके उससे हाल पूछ लेता, दो चार बातें कर लेता; बस इतना ही संबंध शेष रह गया था।

घुलते-घुलते नयनतारा राजयक्ष्मा का शिकार होकर तेजी से जीवन की मजिल पार करने लगी। जितनी ही उसकी दशा बिगड़ती गई, उतनी ही घरवालों की उपेक्षा बढ़ती गयी। अब नौकर-चाकरों के अतिरिक्त उससे बोलने-चालने वाला कोई न रह गया था। छूत की बीमारी समझकर कोई उसके पास भी न आता था। कुमारिल को भी मना कर दिया गया कि वह उसके समीप बिल्कुल ही न जाय। इससे वह और भी निश्चित हो गया।

पाँच-छः महीने ऐसे ही बीत गये। बाद के दो-ढाई महीने तो कुमारिल दूर से भी उसका हाल पूछने नहीं गया। नयनतारा घर वालों को देखने के लिये तड़प-तड़प कर रह जाती। किन्तु किसी को उस तक आने का अवकाश ही न मिल पाता था, कारण था घरवालों की कुमारिल की दूसरी शादी के लिये लड़की की खोज, और कुमारिल की उसमें मलग्नता। दूसरी शादी की बात सोचते समय उसे जरा भी हिचकिचाहट न हुई और न उसे इसका ही ध्यान आया कि वह नयनतारा के प्रति कितना बड़ा अत्याचार कर रहा है।

नयनतारा ने भी उड़ता-उड़ता यह समाचार सुना; पर उसे विश्वास ही न होता था कि उसके साथ, जब वह मृत्यु की घड़ियाँ गिन रही थी,

इतना बड़ा अमानुषिक अत्याचार किया जा सकता है। किन्तु कुछ ही दिन बाद उसने सुना कि कुमारिल की दूसरी शादी तय हो गयी है और देखते-देखते वह दिन भी आ गया जब कुमारिल फिर विवाह करने चला। उसे इस बात की आवश्यकता भी प्रतीत न हुई कि बुझती हुई नयन-तारा से इस विषय में कुछ भी बात करे। वह छटपटा कर रह गई।

बाजें-गाजें के साथ कुमारिल ने दूसरी पत्नी को लेकर गृह-प्रवेश किया। नयनतारा खाट से उठकर कोठरी का दरवाजा पकड़ कर खड़ी हो गई; उसे अपना गृह-प्रवेश का दिन याद हो आया। उसका कोमल नारी-हृदय इतनी वेदना, इतनी यत्रणा न सह्य कर सका और वह आँचल में मुह छिपा कर फूट-फूट कर रो पड़ी। रोने का शब्द सुनकर उसकी सास दौड़ी आई और चिल्ला कर बोली "मनहूस ! इस शुभ घड़ी में रोना-धोना मचा कर अशकुन करनी हूँ ! खुद तो आते ही खाट पकड़ ली, अब मेरे लाल को दूसरी मुख देने आई सो भी नहीं देखा जाता !"

तब तक कुमारिल भी माँ को चिल्लाते देखकर वहाँ आ गया। उसने अपराधी की भाँति एक बार उड़ती हुई निगाह से नयनतारा की ओर देखा फिर पलट कर माँ से बोला—"चलो भी ! यह तो पागल हो गई है ! दिन-रात रोना-चिल्लाना, बस यही इमे आता है ! . . जल्दी करो अम्माँ वहाँ बहुत सी मुहल्ले की औरतें तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।"

"चल बेटा," कहकर कुमारिल की माँ आँगन में होती हुई भीतर चली गई। माँ के पीछे-पीछे कुमारिल भी कोठरी से निकलने लगा। नयनतारा ने वापस मुड़ते हुए पति से कड़वे स्वर में कहा—"शादी कर ली सो तो ठीक ही किया लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि मेरे इस रोग के किटाणु तुम्हारी नयी नवेली को न लग जाये।"

"उसे तुम्हारी छाया से भी दूर रखूँगा !" कुमारिल ने घृणा मिश्रित स्वर में कहा और नयनतारा को खाँसते देखकर तब तक पर हमाल

रख कर तेजी से लौट गया ।

नयनतारा ने ओझल होते हुए पति की ओर देखा; फिर लोक-लाज के लिये रक्खी हुई पुरानी दवा की शीशियों को कूड़े की टोकरी में डालते हुए बड़े विषाद के साथ मुस्करा कर धीरे से कहा .. “प्रश्न मेरी छाया का नहीं; तुम्हारी छाया का है !”

वह भी मुसलमान था

घटना उस समय की है जब देश स्वतंत्र नहीं हुआ था, और आये दिन इधर-उधर साम्प्रदायिक दंगे हो जाया करते थे। एक दिन मैं बाहर बैठा अखबार पढ़ रहा था कि एक लड़का बराँडे में आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। उसका नाम था अब्दुल्ला। इकहरा बदन, गेहुँआ रंग, उम्र लगभग अठारह साल की होगी। उसने इतनी सरलता से मुझसे बातचीत करनी शुरू कर दी कि मैं न चाहते हुए भी उसकी ओर आकृष्ट हो ही गया। उसके अतिरिक्त यदि और कोई आकर मेरे सामने नौकरी के लिए प्रार्थना करता तो शायद अवश्य ही मैं उसको डाँट-फटकार कर भगा देता। पर उस लड़के की निर्भीकता मुझे बहुत भली लगी, और इसी कारण मैंने उसकी बातों की ओर ध्यान भी दिया। वह कहता गया कि किस प्रकार वह पेशावर से आया था और नौकरी की तलाश में मारा-मारा फिर रहा था, तभी मैंने जरा रुखाई से पूछा,—

“कितनी तलब लोगे, अब्दुल्ला?”

उसने मुस्कराते हुए तपाक से उत्तर दिया “हुजूर की गुलामी करूँगा और हुजूर का नमक खाऊँगा—तलब की शर्त मैं नहीं लगाना

चाहता—बस खिदमत करने का मौका चाहता हूँ—जैसे रखियेगा वैसे ही खुश रहूँगा”

मुझे उसका जवाब बहुत पसन्द आया। फिर स्पष्टीकरण के लिये मैंने पुनः कहा “सोच समझ लो मियाँ!—पीछे से झकझक मत करना।”

“नहीं हुजूर! यकीन रखे—मैं ऐसा हुज्जती आदमी नहीं हूँ” उसने उसी तरह सरलता से उत्तर दिया।

मुझे उसकी निर्भीकता और आत्मविश्वास ने बहुत प्रभावित किया, और सिर्फ इसीलिए मैंने उसे नौकर रख लिया।

और वास्तव में वह बहुत ही होशियार और ईमानदार था। इतना सम्य और शान्त स्वभाव का था कि किसी को कभी शिकायत का अवसर ही नहीं देता था। अधिकतर वह मेरे ही काम में रहता था और मेरा खास नौकर था। मुझे शिकार का बहुत शौक था, और इस काम में अब्दुल्ला का भी बहुत मन लगता था। जब-जब मैं शिकार को निकलता वह खुशी से नाच उठता और चट-पट चलने के लिए तैयार हो जाता। मुझे भी उसको साथ रखने में बड़ी सुविधा होती थी। मुझे कहना तो नहीं चाहिए था, पर फिर भी एक अवसर पर उसके निशाने से खुश होकर मैंने स्वीकार कर लिया था कि उसका निशाना अचूक था और मुझसे कहीं अच्छा था। इसपर वह बहुत ही विनीत स्वर में बोला, “खाकसार क्या जानता है... इतना तो हमारी तरफ के सभी लोग जानते हैं... भला हुजूर का और मेरा... निशाने में क्या मुकाबला” मैं हँस कर चुप हो गया। अब्दुल्ला के काम से मैं वास्तव में बहुत खुश था।

उस समय देश में साम्प्रदायिक तना-तनी और झगडे चल ही रहे थे, इसलिए मेरे मिलने वाले तथा घर के लोग एक मुसलमान को नौकर रख लेने के कारण मुझसे काफी अमंतुष्ट थे। मैं भी कभी-कभी इस बात पर मोचता था पर मेरी कभी भी इच्छा न होती थी कि मैं उस मीथे-सच्चे नौकर पर अविश्वास करूँ। इसलिए विरोध होते हुए भी मैं उसे रखे रहा। अब्दुल्ला ने भी अवश्य ही इस अविश्वास की भावना

का अनुभव किया होगा पर वह इस ओर से बिल्कुल निर्लिप्त ही रहा। उल्टे और भी अधिक लगन से मेरी और मेरे परिवारकी सेवा करता रहा।

निहाल मेरा लडका था। लगभग बारह साल का। घर से थोड़ी दूर ही एक हाई स्कूल था उसी की आठवीं कक्षा में पढ़ता था। अब्दुल्ला का काम था कि उसको फिटन से रोज स्कूल पहुँचाये और वापस ले आये। इस काम को वह इतने उत्साह और लगन से करता था कि मैं गद्गद् हो जाता।

एक दिन आसमान में बादल छाये हुए थे और मौसम बड़ा ही सुहावना था। हम लोगों ने 'पिकनिक' पर जाने का इरादा बनाया, पर निहाल स्कूल गया हुआ था इसलिए अब्दुल्ला को भेजा कि वह उसे स्कूल से ले आये। वह खुश-खुश चला गया। मोटर आकर पोर्टिको में लग गई थी। बस, निहाल और अब्दुल्ला के आने की देरी थी। थोड़ी देर में घोड़ों की टापों की आवाज सुनकर मैं बाहर निकल आया। पर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ जब अब्दुल्ला घबड़ाया हुआ दौड़ कर मेरे पैरों पर गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा, "हुजूर!... आज मुझसे ऐसी गलती हुई है जिसकी वजह से मैं जिन्दगी भर आपके सामने सिर न उठा सकूँगा...। लौटते वक्त रास्ते में एकाएक हिन्दू-मुसलिम दगा हो गया और... "कहते-कहते वह दौड़ कर, फिटन से, मूर्छित और खून में लथपथ निहाल को अपनी गोद में ले आया और उमी प्रकार रोता हुआ बोला," वहशियों ने मामूम बच्चे को भँ। न छोड़ा... जब तक मैं दौड़कर छोटे सरकार के पास आया तब तक एक गुड़ा वार करके भाग गया... मेरे होश उड़ गये... पर खूदा की मेहरबानी से बहुत मामूली चोट आई है...। मेरे सरकार! मुझे माफ कर दीजिए . मेरी नियत पर शक न कीजिएगा... मैं समझता हूँ कि मैं मुसलमान हूँ इसलिए मेरे ऊपर शक जरूर ही हो सकता है... पर मेरे हुजूर! आप तो मुझे अच्छी तरह समझते हैं ... आप ऐसे ही मेहरबान बने रहियेगा. मुझपर शक न कीजिएगा... जो सजा आप देंगे उसे मैं खुशी से कुबूल

वह भी मुसलमान था

सतहत्तर

करूँगा. . . .”

उसका सिसकना बहुत देर तक बन्द न हुआ।

निहाल को मामूली चोट आई थी। घर के सब लोग अब्दुल्ला को ही दोष देते और बुरा भला कहते। वह बेचारा सब कुछ सुनता और चुपचाप आँसू बहा लेता। जो कोई बाहर वाला भी आता वह मेरी मूर्खता की टीका टिप्पणी किए बिना न रहता और यही कहता कि अभी क्या हुआ है जब शैतान सारा घर लुटवा देगा तब पछताने से भी कुछ बात न बनेगी।

निहाल की सेवा-सुश्रूषा में अब्दुल्ला ने रात-दिन एक कर दिए। चिन्ता के कारण उसे खाने-पीने का भी होश न रहता था। उसकी दशा देख कर मेरा दिल भर आता था। सब के निन्दा करने पर भी मेरा जी न करता था कि उस पर, सिर्फ इसलिए कि वह मुसलमान है, अविश्वास करूँ। मेरा पूर्ण विश्वास था कि उसकी वफादारी पर सन्देह करना अन्याय होगा और इसीलिए हर ओर से इतना विरोध होते हुए भी मैंने उससे कुछ नहीं कहा, और उसके प्रति व्यवहार भी पहले जैसा ही घनिष्ट रक्खा। मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि अब्दुल्ला ने मेरी इस उदारता की मन ही मन सराहना की, और पहले से अधिक लगन से काम करने लगा।

अब्दुल्ला के प्रति मेरे व्यवहार को देखकर घर और बाहर वाले दोनों ही धीरे-धीरे चुप हो गये, और उसका विरोध करना बन्द कर दिया। पर यदि ईमानदारी की बात पूछी जाय तो इस घटना से मेरे दिल में खटका अवश्य हो गया था, फिर भी, उसके प्रति किसी प्रकार भी अविश्वास करने को मेरा जी न चाहता था।

उन दिनों साम्प्रदायिक दृष्टि से देश की दशा अच्छी न होने के कारण आये दिन कहीं न कहीं हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा हो ही जाया करता था। एक दिन, रात में, मेरे नगर में फिर जोरों का झगड़ा हुआ और लूटपाट मच गई। पर गनीमत थी कि मेरा मुहल्ला अभी इस आग से

बचा हुआ था। उसी दिन रात को अब्दुल्ला एकाएक न जाने कहाँ चला गया। उसके इस व्यवहार से मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ और सदमा सा पहुँचा। मैंने मन ही मन होचा... “आखिर धोखा दे ही गया... वह घर के रत्ती-रत्ती हाल से परिचित है... अगर उसने दगा दी और अपने सम्प्रदाय वालों से मिल गया तो खैर नहीं...” दंगा बढ़ता ही जा रहा था। रात के सन्नाटे में “अल्ला हो अकबर” और “बजरंग बली की जय” के नारे बड़े ही भयानक लगते थे। हम सब लोग रात भर जागते रहे। मेरे मुहल्ले के समीप शोर बढ़ता ही जा रहा था। ऐसा लगता था जैसे मुसलमानों का जत्था आग लगाता, और लूटमार करता आगे बढ़ता चला आ रहा हो। मुहल्ले के बहुत से लोग जल्दी-जल्दी अपनी-अपनी मोटरों से भाग रहे थे। मैं घबराहट में कुछ तय भी न कर पाया था कि तभी मारो... मारो. .! खून पी लो काफिरों का!” का शोर बहुत पास आ गया। एकाएक हम लोग बहुत घबरा गये। सब लोगों को एक कमरे में बन्द करके मैंने अपनी बन्दूक सम्हाल लीं। पास ही में “धाय! धाय!!” बन्दूकों के छूटने का शब्द भी आ रहा था। उसे सुनकर मेरा कलेजा और भी बैठता जा रहा था। स्पष्ट था कि बलबाइयों के पास बहुत बन्दूकें थीं। मेरे पास कारतूस कम थे इसलिए बन्दूक का भी कोई खास सहारा न था। इतने में मैंने देखा कि एक बहुत बड़ी भीड़ मेरे घर की ओर बढ़ती चली आ रही है। मैंने एक गोली चलाई, उधर से कई गोलियाँ चलीं। इतने में बलबाई और भी पास आ गये। मैं बहुत घबरा गया, और जोर-जोर से भगवान् को याद करने लगा। भय के मारे बच्चे और पत्नी चीख मार-मार कर रो रहे थे। इतने में मेरे घर की छत से गोलियों की बौछार शुरू हो गई। उस समय मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ, पर कुछ भी समझ में न आया कि यह सब कैसे हुआ। बलबाइयों की लाशें मेरे हाते के सामने बिछने लगीं। उन्होंने बहुत देर तक सामना किया पर गोली की उस तेज बौछार के आगे टिक न सके, शोर मचाते हुए भागे। और तब कहीं

मेरी जान में जान आई ।

बलवाई अब बहुत दूर जा चुके थे । हम लोग सोच ही रहे थे कि छत पर जाकर देखे कि आखिर किस नेक आदमी ने हम लोगो की जान बचाई है कि तभी छत से किसी के कराहने की आवाज और “मालिक ! मालिक ! !” का धीमा शब्द सुनाई पड़ा । उस आवाज को मैंने झट पहचान लिया । वह अब्दुल्ला की आवाज थी । मैं तुरन्त सीढ़ियो की ओर लपका, दूसरे लोग भी मेरे पीछे दौड़े । छत के एक कोने में खून से लथपथ अब्दुल्ला तडप रहा था । बगल में एक टामी-गन और गोलियों की पेटी पड़ी थी । मैंने झपट कर उसका सर अपनी जाँघो पर रख लिया । और घबराये हुए स्वर में बोला ।

“अब्दुल्ला !... अब्दुल्ला ! !... देखो, आँखें खोलो.. मैं आ गया हूँ... अब्दुल्ला... ! !” मेरी आवाज सुनकर उसने जरा सी आँखें खोली, और कराहते हुए बड़ी कठिनाई से अस्फुट शब्दो में बोला,

“मेरे सरकार !... आप सही सलामत तो हैं... छोटे सरकार,. . मालकिन .. किसी को चोट तो नहीं आई... आह !... खुदा का शुक्र है... आप समझे होंगे .. गुलाम दगा दे गया... पर नहीं , मेरे मालिक !... मुझे माफ करियेगा आज में बहुत खुश हूँ... मैंने आपका नमक खाया था... उसे अदाकार दिया . ! अल्लाह आप लोगो को सलामत रखे... मैं . अपने मालिक की गोद में दम तोड़... रहा हूँ... इससे ज्यादा... खुशनसीबी... और... क्या हो... गी... ”

कहते-कहते उसकी आँखें पथरा गई और सर मेरी जाँघों पर झूल गया । मैं घबरा कर एकाएक चिल्ला पड़ा,

“अब्दुल्ला ! अब्दुल्ला ! ! मेरे बच्चे ! ! !” लेकिन तब तक वह ठण्डा हो चुका था ।

आज भी जब कभी मुझे उस वफादार नौकर का ध्यान आता है तो एक ही विचार प्रबल हो उठता है ।

बलवाई भी मुसलमान थे, और अब्दुल्ला भी ।

उलभन

मुझे सोचते रहने का कुछ रोग सा हो गया है। शरीर की शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती जा रही है। ऐसा लगता है मानों अपने अन्त की ओर तेजी से खिंचा चला जा रहा हूँ। किसी भी प्रकार का परिश्रम करना मना है, यहाँ तक कि मस्तिष्क पर भी जोर देने की मनाही है। आज्ञा है केवल बिस्तर पर पड़े पड़े दिन भर आराम करने की। किन्तु शरीर पर बाहर वाले रोक-थाम लगा ले, देखभाल कर ले, पर मन पर तो किसी का अधिकार नहीं ! क्या ये दवा-दारू, पौष्टिक भोजन या विश्राम मेरे मन का रोग मिटा पायेंगे ?

कभी-कभी दशा कुछ सुधरने लगती है और हृदय के अंगारे बुझ-बुझ कर राख के नीचे दबने लगते हैं लेकिन एकाएक फिर टीस उठती है, राख बिखर जाती है; अंगारे बुझते-बुझते भभक उठते हैं। मैं चिन्ताग्रस्त हो उठता हूँ; विचारों में डूब जाता हूँ। सुधरती हुई दशा फिर बिगड़ने लगती है। बस ऐसा ही मेरे जीवन का क्रम चल रहा है !

.. आज भी मुझे अच्छी तरह याद है। पत्नी के रूप में पूर्णमा पहले दिन मेरे सामने आई तो मैं धक्का सह गया। मेरी खुशी, मन का उल्लास और भविष्य के सुनहले-सपने एकाएक झटका खा कर टूट से

गये। मैं सोच में पड़ गया। सुख की पहली सीढ़ी पर पैर रखकर क्या कोई इतना चिन्तित और इतना उदास रह सकता है? उसकी आँखें रोते-रोते सूज सी गई थीं। चेहरे पर विषाद की रेखायें इतनी स्पष्ट और गहरी थी कि लगता था मानों वह किसी मार्मिक व्यथा से व्याकुल थी। पहनावे से, आँखों से और शृंगार से विद्रोह सा झलक रहा था। मैं एकटक उसकी ओर देखता रह गया। वह नतमस्तक बैठी थी। मैंने समीप जाकर धीरे से पूछा.. “आप बहुत दुःखी हैं; शायद आपका मन यहाँ नहीं लग रहा है!” चौककर पल भर को उसकी विषाद भरी आँखों ने मुझे देखा, और फिर उनमें सावन-भादों की झड़ी लग गई। इस मूक रुदन ने मुझे विचलित कर दिया; किन्तु इच्छा होते हुए भी मैं समझ नहीं पाया कि उससे और क्या बात करूँ! मैं सशंकित होकर मन ही मन तर्क-वितर्क करने लगा.. “यह ठीक है कि वह अपने माँ-बाप भाई-बहन को छोड़कर अपरिचित लोगों के बीच, एक नयी जगह आई है; फिर भी इतना क्लेश क्या स्वाभाविक है? शायद नहीं! तब क्या वह इस विवाह से असंतुष्ट है? क्या मैं उसे पसन्द नहीं?’ यही सब सोचता-विचारता मैं वहाँ से हट गया।

धीरे-धीरे हम लोगों का जीवन एक साथ गुथने लगा। उसकी उदासी बिल्कुल तो नहीं गई पर कम अवश्य होने लगी। किन्तु मुझे लगता था मानों प्रसन्न रहने और हँसने के लिये उसे उपक्रम करना पड़ता था; उसमें सहज, स्वाभाविक उल्लास की नहीं, कृत्रिमता की छाया सी थी। फिर भी मैंने कभी उससे उसकी उदासी का कारण नहीं पूछा; न कभी अपनी इन भावनाओं को उसपर व्यक्त ही किया। कारण मेरी उदारता या महानता नहीं; केवल स्वार्थ था। मैं पूर्णिमा को इतना प्यार करने लगा था कि अतीत की किसी दुःख घटना की छाया हम दोनों के बीच आकर हमारे मधुरसंबंध को कटु कर दे, यह कल्पना ही मेरे लिये असह्य थी।

मेरे निश्चल प्रेम और विश्वास से पूर्णिमा को भी बल मिला।

उसके बुझे-बुझे नेत्रों में प्रेम की ज्योति छा गई; ओठों पर मुस्कराहट खेलने लगी। पर बीच-बीच में एकाएक उसका विषाद लोट आता और मुझे लगता कि वह गभीर होकर मुझसे कुछ कहना चाहती है; उस समय या तो मैं किसी आवश्यक कार्य के बहाने स्वयं वहाँ से हट जाता, या उसे अपनी बातों में उलझा लेता था। उसकी बात सुन पाने का साहस मैं कभी नहीं जुटा पाया; बराबर अपने आप को यही भुलावा देता रहा कि 'जानने योग्य कुछ है ही नहीं! सब मेरे मन का भ्रम है! केवल भ्रम!'

एक दिन तबियत भारी होने के कारण मैं दफ्तर से जल्दी ही घर लौट आया। फाटक पर अपने नौकर को कही जाते देखकर पूछा—

“क्या बाजार जा रहे हो, रामू?”

“जी हाँ बाबू जी! बहू जी के मायके से कोई मेहमान आये है, उन्हीं के लिये कुछ मीठा-नमकीन मँगवाया है।” मुझे कुछ आश्चर्य हुआ, क्योंकि सुबह तक किसी के आने की बात नहीं थी।

भीतर पाँव रखते ही मुझे पूर्णिमा का व्यथित स्वर सुनाई दिया”.. वे बहुत अच्छे हैं—दयालु, सरल और उदार। कभी-कभी तो मुझे लगता है मानो मैं सर्वथा उनके अयोग्य हूँ! मैं क्या करूँ जीवन? यह सब कुछ मेरी पीड़ा को और भी बढ़ा देता है!”

“शायद तुम ठीक कह रही हो, लेकिन...” किसी पुरुष का स्वर था। मैं चाहता तो पूरी बात सुन सकता था। अपनी जिज्ञासा, अपनी उलझन को हमेशा के लिये शान्त कर सकता था। किन्तु प्रेम ने मुझे कायर बना दिया था; सत्य का सामना कर पाने का साहस मुझमें नहीं था। मैंने युवक को बात पूरी करने का अवसर दिये बिना ही कमरे में जाते हुए पुकारा, “पूर्णिमा।”

पूर्णिमा मुझे देखकर चौक गयी। उसने अपने सहमे हुए स्वर को सयत रखने की चेष्टा करते हुए युवक से कहा, “लीजिये जिनकी चर्चा कर रहे थे वे आ गये!” फिर मेरी ओर मुड़ कर कहा—“यह हैं श्री जीवन। मेरे पड़ोसी थे। काम से यहाँ आ रहे थे, माता जी ने कहा कि

हम लोगों से मिलते आये। बिल्कुल घर के से आदमी हैं।”

मैंने पूर्णिमा से चाय का प्रबन्ध करने के लिये कहा। हम लोग देर तक हँसते-बोलते रहे। शाम को जीवन जब चलने को हुआ तब मैंने पूछा,

“आप कहाँ ठहरे हैं ?”

“यही एक होटल मे ठहरा हूँ।”

‘वाह, वाह ! अपना घर होते हुए भी आप होटल में कैसे ठहर सकते हैं ।

“नही, मैं वहाँ मजे से हूँ ; आप बिल्कुल चिन्ता न करें !”

“यह कैसे हो सकता है ! ठहरना तो आपको यहाँ ही पड़ेगा । मैं अभी सामान मंगवायें लेता हूँ, आप पता मुझे बता दीजिये !”

जीवन कुछ सकपका सा गया किन्तु विवश होकर उसे मेरे घर ठहरने की स्वीकृति देनी ही पड़ी। मैंने पूर्णिमा की ओर देखा। वह घबराई हुई सी थी। लगता था जैसे वह चाहती हो कि मैं जीवन को चला जाने दूँ। थोड़ी देर के लिये मैं भी द्विविधा में पड़ गया कि मैंने उसे घर में बुलाकर ठीक किया या नहीं। लेकिन अब तो मैंने उसे रोक ही लिया था।

दो दिन जीवन मेरे घर रहा। उसके निकट सपर्क में आकर मैंने देखा कि वह सुलझा हुआ, समझदार और स्नेहशील व्यक्ति था। उसका बातें करने का ढंग बहुत ही मनोरंजक था। किन्तु इससे मुझे प्रसन्नता न होकर कष्ट ही हुआ। जीवन दोनों दिन मेरे दफ्तर जाने से कुछ समय पूर्व ही काम का बहाना करके चला जाता और मेरे आने के बाद वापस लौटता था। जब तक मैं घर में रहता, पूर्णिमा भी छाया की तरह मेरे पीछे लगी रहती। किन्तु दफ्तर में मैं कुछ भी काम न कर पाता। जब तक मैंने जीवन को नहीं देखा था तब तक मैं संतुष्ट था, किन्तु उस मोहक युवक ने आकर मेरे सुख और संतोष की नींव हिला दी। मेरे मस्तिष्क में दिन रात यही प्रश्न चक्कर काटते रहते थे

कि पूर्णिमा उसे कितना चाहती थी ? वे एक दूसरे से कितना प्रेम करते होंगे ? उनका विवाह क्यों नहीं हो पाया ? मुझे विवाह से पूर्व ही पूर्णिमा ने यह सूचना क्यों नहीं दे दी ?

मैं चाहता तो पूर्णिमा से स्पष्ट सब कुछ पूछ सकता था किन्तु अनिश्चय की यह स्थिति,, निश्चित रूप से सारी बातें जान लेने की अपेक्षा कहीं अच्छी थी। मनुष्य यथा संभव अपने आप को भ्रम में डाले रहने का मोह नहीं त्याग पाता ! इस स्थिति में कम से कम थोड़ी देर के लिये मैं यह अनुमान करके सतोष पा लेता था कि संभव है अब पूर्णिमा मुझे जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक प्यार करती हो किन्तु 'मेरी पत्नी किसी दूसरे की प्रेयसी है' यह विचार मुझे व्यथा से पागल किये दे रहा था।

पूर्णिमा से भी मेरी मनोदशा छुपी न रही। वह निरंतर मुझे प्रसन्न रखने की चेष्टा करती; हर प्रकार से मेरी सुविधा का ध्यान रखती किन्तु मेरे मन को किसी तरह भी शान्ति नहीं मिल पाती थी। एक दिन बहुत चिंतित होकर मुझसे पूछा—

“क्या हो गया है आपको ? न ठीक से खाते-पीते हैं, न पहले की तरह हँसते-बोलते हैं।”

“कुछ नहीं हुआ; ठीक तो हूँ!” मैंने कोमल स्वर में उत्तर दिया।

“सचमुच आप बहुत उदास और खोये-खोये रहते हैं; क्या मुझे भी कारण न बताइयेगा ?” उसने चिंतित स्वर में पूछा।

मैंने उसकी तरफ ध्यान से देखा। उसकी आँखों में अगाध निश्छल प्रेम की झलक पाकर मेरी इच्छा हुई कि उससे सब कुछ स्पष्ट कह दूँ किन्तु फिर भी कुछ सोचकर मैंने केवल यही कहकर उसे समझा दिया कि दफ्तर में काम ज्यादा है इसी से शिथिल सा रहता हूँ। मौसम भी खराब है; जाड़े में फिर स्वास्थ्य पहले जैसा हो जायगा।’

लेकिन मेरा स्वास्थ्य ठीक होने की अपेक्षा दिन-प्रतिदिन गिरता ही गया। मैंने हर प्रकार से सम्भलने की चेष्टा की; अपने आप को काम

काज में इतना व्यस्त रक्खा कि सोचने-विचारने का अवकाश ही न मिले; किन्तु इससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। पूर्णिमा के सामने आते ही मेरा मन और भी भारी हो जाता था। उसके पास बैठना, यहाँ तक कि उससे बात करना भी मेरे लिये कठिन हो गया। पूर्णिमा की माँ ने जब उसे बुलाने का पत्र लिखा तो मैंने चैन की साँस ली और किसी तरह समझा-बुझा कर उसे भेज दिया। किन्तु उसके चले जाने पर उलझन और भी बढ़ गयी। पूर्णिमा के सामने, इच्छा न होते हुए भी समय से खाना पीना पड़ता था, हँसना-बोलना पड़ता था; किन्तु अब इस बड़े से मकान में मैं अकेला ही रह गया था। खाने के लिये बैठता किन्तु थाली की ओर देखने की भी इच्छा न होती और मैं केवल चाय पीकर दिन काट देता था। सारे घर में निरुद्देश्य चक्कर काटता; कभी पढ़ने की चेष्टा करता; कभी आराम से बैठने की लेकिन मन को शान्ति किसी भी दशा में नहीं मिल पाती। रह रहकर एक ही बात मन को व्यथित करती थी; एक ही विचार मस्तिष्क में चक्कर काटता था— “पूर्णिमा मेरी नहीं है; मेरी नहीं है!”

अब शरीर भी साथ नहीं देता। तरह-तरह की दवायें मेज पर सजी हैं। हरी-तरकारियाँ, फल और दूध किमी के सेवन से लाभ नहीं होता। डाक्टर कहते हैं कि रक्त की कमी है; शक्ति की कमी है। दशा चिन्ताजनक होती जा रही है किन्तु जब मेरी आस्था, मेरा विश्वास, मेरा प्रेम सब आखिरी साँसे गिन रहे हैं तो मैं क्या करूँ!

नेता

बचपन से ही जयन्त के मन में नेता बनने की धुन सवार थी। जब कभी वह किसी नेता का भव्य स्वागत देखता, उनका प्रभावोत्पादक भाषण सुनता तो उसका शिशु-हृदय विस्मय और उल्लास से फूल उठता। उमड़ती हुई भीड़ जब उनकी जय जयकार के नारे लगाती तो वह पुलकित तो अवश्य हो उठता पर चुपचाप खड़ा सोचा करता—
'क्या मैं भी कभी ऐसा नेता नहीं बन सकता ?'

और इसी भावना से प्रेरित होकर अपने समयस्कों के बीच वह सदा यही प्रयत्न करता कि उसी की बात मानी जाय। हर काम में वह अगुआ ही रहने की कोशिश करता। और इस प्रकार, धीरे-धीरे, उसने अपना स्थान बना ही लिया। छोटे-छोटे बच्चों के बीच जब कभी लड़ाई-झगडा होता तो वह चट बीच-बचाव करने के लिये वहाँ पर पहुँच जाता, और जब वे चुपचाप उसकी बात मान लेते तो उसके हर्ष का, उल्लास का, पारावार न रहता। कक्षा में, मुहल्ले में, कहीं भी कोई बात होती तो बच्चे उसी के पास परामर्श के लिये आते, और उस काम को सम्हालने के लिये कहते। इस प्रकार, धीरे-धीरे, नन्हा सा जयन्त यह सोचने लगा कि छोटा ही सही पर वह नेता बन गया है। उसमें नेता बनने की

सामर्थ्य अवश्य है।

उसकी यह धुन अवस्था के साथ-साथ बढ़ती गई। भाषण, जै जै कार के नारे, स्वागत, सम्मान और प्रतिष्ठा, इनमें उसे जो आकर्षण लगता वह पढाई-लिखाई में बिलकुल न था। इसी कारण उस दिशा में उसका मन बिलकुल उचाट ही रहता। दिन रात यही सोचा करता कि किस प्रकार वह लोगो का नेतृत्व करे, वे उसकी जै जैकार के नारे लगाये तथा सम्मान करे। और इसी धुन के सहारे वह धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया।

युवक होते-होते उसने अपनी प्रतिष्ठा काफी जमा ली। अपने नगर ही में क्या, आसपास के नगरों में भी उसकी टक्कर का कोई नेता न था। अब जब वह भाषण देता तो हजारों की भीड़ इकट्ठी हो जाती और जनता चिल्ला-चिल्ला कर कहती—जयन्त जी, जिन्दाबाद, जयन्त जी, जिन्दाबाद।” उसको फूलों के हार पहनाये जाते, जलूस में नगर भर में घुमाया जाता और जब शॉत-क्षणों में उसे उन सब बातों पर विचार करने का अवसर मिलता तो उसका युवा-हृदय उत्तेजना और हर्ष से फूल उठता, सिहर उठता। पर वह इससे भी आगे बढ़ना चाहता था। इतने से उसे सतोष न था। उसकी आदर और सम्मान प्राप्त करने की लिप्सा और भी अधिक उत्कट हो उठी।

वह बनने को तो नेता बन गया, पर उसका आधार देशभक्ति और त्याग की भावना इतनी न थी जितनी कि प्रतिष्ठा और सम्मान पाने की इच्छा। इसी कारण जब कभी वह इसके त्याग के पहलू की ओर देखता और उस पर विचार करता तो इस महान उत्तरदायित्व से उसे भय सा लगता। वह तो खेल-खेल में नेता बन गया था, और उसी को निभाता चला जा रहा था।

एक दिन, आँतरिक इच्छा न होते हुए भी उसे एक सभा में भाषण देने जाना ही पडा, नेता जो ठहरा। और इधर राज्य के अधिकारी सतर्क थे कि कोई सभा न होने पाये। ज्योंही वह बोलने खडा हुआ

और थोड़ा ही बोल पाया था कि कर्मचारियों ने आकर उसे गिरफ्तार कर लिया। इसके लिए वह जरा भी तैयार न था। यह घटना उसके जीवन में पहली बार घटित हो रही थी इस कारण गिरफ्तारी के समय उसे कुछ तकलीफ और हिचकिचाहट भी हुई, पर तभी एकत्रित जनता चिल्ला उठी, “जयन्त जी की जै,....नेता जी। जिन्दाबाद। दमन-नीति मुर्दाबाद॥” जनता के प्रोत्साहन भरे जै-जै-कार से भयभीत जयन्त को तुरन्त ही बल मिल गया। उसने सोचा कि इसमें भी उसका सम्मान ही बढ रहा है और तभी हसते-हसते चिल्ला कर कहा, “मैं तो जा रहा हूँ, पर अब इस सभ्राम को बागडोर आप लोगो के ही हाथ है। बन्दे मातरम् !!”

और जब अधिकारी-गण उसे मोटर में बैठाकर ले जा रहे थे तो जनता जोर-जोर से नारे लगा रही थी—“भारत माता की जय। जयन्त जी की जय !! इन्कलाब जिन्दाबाद !!!....”

कारागार में पड़े-पड़े जयन्त के मन का संघर्ष और प्रबल हो उठा और वह रह रह कर यही सोचा करता कि उसने नेता बन कर अच्छा नहीं किया। राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने के बाद उसे समय ही नहीं मिलता था कि वह अपना और कुछ काम कर सके। माता-पिता, बीबी-बच्चे तथा अन्य निकट सम्बन्धी अब उसके लिए पराये से हो गये थे। उसके पास अवकाश ही न था कि उनसे दो क्षण हस बोल सके, उनके सुख दुःख में भाग ले सके। और फिर, उसमें इतना आत्मबल भी तो नहीं था कि वह देश के इतने बड़े उत्तरदायित्व को अपने कंधों पर सम्हाल सके। वह तो सम्मान और प्रतिष्ठा के लिए नेता बना था और इतने कठोर उत्तरदायित्व के लिए कभी भी तत्पर न था।

कारागार में यही अन्तर्द्वन्द्व उसे रह रहकर व्यथित करता रहता था। उसने निश्चय कर लिया कि इस बार जेल से निकल कर वह राजनीति से, धीरे-धीरे, हाथ खींच लेगा।

पर जिन भावनाओं और विचारों को लेकर वह जेल से बाहर निकला, वे चिरस्थायी न रह सकी। बाहर निकलते ही जनता ने उसे फिर आसमान पर चढ़ा दिया। फूलों के हार, जै-जैकार के नारे, मानपत्र, समाचार पत्रों में चर्चा, इन सब बातों ने उसकी ऐश्वर्य-लिप्सा को फिर प्रज्वलित कर दिया और वह पुनः पूरी तौर से राजनीति के चक्कर में पड़ गया।

धीरे-धीरे उसकी कीर्ति नगर, प्रांत, तथा अन्य प्रान्तों को पार करती हुई सारे देश में फैल गई। और वह देश का एक बहुत बड़ा और विख्यात नेता बन गया। अब उसके कंधों पर अपने नगर तथा प्रान्त का ही नहीं बरन् सारे देश में आन्दोलन चलाने का भार था। और इस कारण उसको दम मारने का भी अवकाश न मिल पाता। आज यहाँ तो कल वहाँ, सारे देश में इधर से उधर घूमता फिरता। और इस प्रकार उसकी प्रतिष्ठा और ख्याति अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई।

धीरे-धीरे उसका मन फिर अपने कौटम्बिक जीवन की ओर झुकने लगा। उसकी सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा चरम सीमा तक पहुँच कर क्षीण होने लगी। वह प्रतिक्षण इतना व्यस्त रहता कि उसको इतना समय ही न मिल पाता कि अपने तन की ओर तक ध्यान दे सके, फिर कुटुम्बियों की बात तो बहुत दूर थी। काम करने-करते, तथा कोलाहलपूर्ण जीवन व्यतीत करते-करते वह ऊब उठा था। अब वह इस कोलाहल से बहुत दूर, शान्त वातावरण में रहना चाहता था। उसने बहुत प्रयत्न किया कि वह दोनों प्रकार के जीवन में सामंजस्य स्थापित कर सके पर वह सभव न था।

इस अन्तर्द्वन्द की प्रतिक्रिया उसके राजनीतिक जीवन में बड़ी तेजी से हुई। धीरे-धीरे वह चिडचिड़ा होने लगा, और सदा यही प्रयत्न करता कि वह इस कोलाहलपूर्ण वातावरण से जितना दूर हट सके हट जाय। पर यह न हो सका और वह अत्यन्त खिन्न और दुखी

रहने लगा। उसको अपना घर छोड़े लगभग दो तीन मास हो गये थे। इसी बीच उसे अपने पिता का पत्र मिला कि उसकी पत्नी तथा बच्चे दोनों रोग-शैथ्या पर पड़े हुए हैं। उसने बहुत चाहा कि घर वापिस जाकर अपनी पत्नी और बच्चे को सान्त्वना दे, उनके दुःख सुख में हाथ बंटाये, पर इतने अधिक और आवश्यक काम एकत्रित हो गये थे कि उसको पत्र का उत्तर देने तक का अवकाश न मिल पाया।

और इसी मनोदशा में उसे एक अखिल-भारतवर्षीय सम्मेलन का सभापति होकर जाना पड़ा। समूचा नगर उसके स्वागत के लिए उमड़ पड़ा था। जै-जैकार के नारों से सारा आकाश गूँज उठा। बड़े-बड़े नेता उसके सम्मान में लगे हुए थे, पर यह सब उसको बिलकुल आकृष्ट न कर सका। वह शांति चाहता था। एक साधारण मनुष्य की तरह, कोलाहल से दूर, सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता था।

सुबह से लेकर शाम तक वह सम्मेलन के कार्य में व्यस्त रहा। भाषण देते-देते उसका सर चकरा रहा था और अधिक परिश्रम के कारण वह बहुत ही क्लान्त और शिथिल हो गया था। अतः विश्राम के लिए वह अपने निवास स्थान को लौट पड़ा। पर साथ में कुछ और नेता भी लग गये। वह नहीं चाहता था कि कोई भी उसके साथ रहे या बातचीत तक करे, पर क्या करता। वे तो उसके पास से हटना ही नहीं चाहते थे। रास्ते भर वे उसका थका हुआ माथा चाटते रहे। रह रह कर उसके जी में आता कि वह उनसे अशिष्ट हो जाये और उन्हें चुप रहने को कह दे, पर वह इतना साहस न बटोर सका।

पर वहाँ पहुँच कर उसने जो दृश्य देखा उससे उसके होश उड़ गए और झुझलाहट सहसा दूनी हो गई। सहस्रों की सख्या में जनता उसके निवास स्थान के सामने खड़ी प्रतीक्षा कर रही थी। उसकी सवारी अभी द्वार तक पहुँच भी न पाई थी कि “नेता जी जिन्दाबाद ! महात्मा गाँधी की जय !! भारत माता की जै !!!” के नारों से आकाश गूँज उठा। लोग उसकी सवारी के साथ-साथ दौड़ने लगे, जो

भीड़ अधिक होने के कारण धीमी पड़ गई थी। यदि और कोई अवसर होता तो कदाचित् जयन्त के हर्ष तथा संतोष का पारावार न रहता और वह हंस हंसकर जनता के अभिनन्दन को स्वीकार करता। पर उस दिन वह बहुत क्षुब्ध था, बहुत शिथिल था। स्वागत और जय जयकार के नारों ने उसके मानसिक द्वन्द की गति को और भी तेज कर दिया। और उस कोलाहलपूर्ण वातावरण के प्रति उसकी घृणा पागलपन की सीमा तक पहुँच गई। वह जोर से चिल्लाया—

“ड्राइवर! गाड़ी तेज कर दो। मैं यह कोलाहल नहीं सहन कर सकता। कुचल दो एक दो को—भेड़ बकरी के समान निरर्थक शोर मचा रहे हैं...”

ड्राइवर सन्न रह गया। साथ में बैठे नेतागण चौककर सतर्क हो गए और एक दूसरे का मुह ताकने लगे। तब तक गाड़ी द्वार पर आ लगी।

जयन्त झपट कर उतरने लगा। तभी एक सज्जन ने उसके गले में फूलों की माला डाल दी। वह आग बबूला हो उठा और झुझलाकर माला तोड़ते हुए चिल्लाया—

“क्यों पहिनाते हो मुझे फूलों की माला—मुझे और सम्मान नहीं चाहिये—नहीं चाहिये”, और तभी आकाश में जनता का स्वर फिर गूँज उठा—

“भारत माता की जै!! जयन्त जी जिन्दाबाद!!” जयन्त अपने कान बन्द किये हुए सीढ़ियों की ओर भागा। सहसा उसका पैर फिसल गया और वह गिरते-गिरते बचा। तभी एक युवती ने एक नोट-बुक आगे बढ़ा दी—आटोमोबाइल-नेता जी।”

जयन्त ने एक बार उसकी ओर क्रोध भरी लाल आँखों से देखा और फिर उसे धक्का दे कर आगे बढ़ गया।

कुछ समाचार पत्रों के संवाददाता सामने ही खड़े थे। जयन्त ने उनकी ओर देखते हुए झल्ला कर कहा,—

“मूर्ख कहीं के... किसने आप लोगों को यहाँ बुलाया था। मुझे चैन भी लेने देंगे, या... मैं मर जाऊँ...”

और वह वहीं से उल्टे पाँव लौट पड़ा। गाड़ी पर बैठते हुए ड्राइवर से बोला—

“ले चलो स्टेशन की ओर...” मोटर तुरन्त चल पड़ी। जनता चिल्लाती ही रह गई।

“नेता जी की जै! महात्मा गाँधी की जै!!” उसने फिर कहा—
“तेज चलाओ। मैं यह जय-जयकार बिलकुल ही सहन नहीं कर सकता.”

मोटर तेजी से भागी जा रही थी। जय जयकार करती हुई जनता का स्वर क्षीण होता जा रहा था और पीछे बैठा अर्ध विक्षिप्त सा जयन्त सोच रहा था—‘न जाने उसकी स्त्री और बच्चे की क्या दशा होगी।’

चोरी के फूल

किताबों का पुलिन्दा बगल में दबाये माला सोचती जा रही थी.... यह ऊँच-नीच का भेद, यह छुआछूत का आडम्बर भी कितना बड़ा अभिशाप है समाज के गठन का ... और ऊपर से तुरा यह है कि समाज के पाक-टकेदार जिसकी रक्षा के लिए हर समय तलवारें खींचे रहते हैं, जिसका बीज समाज के साथ ही बो दिया गया था, जिस असमानता के वृक्ष की जड़ें इतनी गहरी हैं और जिन्हें सदा घृणा और मिथ्याभिमान के जल से सींच-सींच कर हरा रखा जाता है, वही आज-कल आवश्यकता की मार से एक इतनी बड़ी विडम्बना हो गई है... जमाने की मार ने... समर्थ की लाचारी ने उसको काट छांट तो दिया है पर उसे जीवित रखने का आडम्बर अवश्य रचे हुए है... वही मैं हूँ जो फाटक की चहारदीवारी के अन्दर चमार-चमार कहकर दूर रखी जाती हूँ... दुतकारी जाती हूँ... हिकारत की नजर से देखी जाती हूँ... अगर किसी पर मेरी परछाही भी पड़ जाये तो उसकी स्वच्छ-पवित्रता कलुषित हो जाती है... पर वही मैं, कोठी की चहारदीवारी के बाहर बिलकुल बदल जाती हूँ... क्यों?... क्योंकि रानी बिट्टिआ को स्कूल जाते समय अपनी किताबों का बोझ भारी लगता है....

चौरानवे

घ रती और धुआँ

आवश्यकता के समय किताबें ले जाने के लिए मैं सवर्ण हो जाती हूँ... किताबों को देते समय मुझे छू भी लिया जाता है क्योंकि उसने समर्थ को आराम पहुँचता है... उसके स्वार्थ की पूर्ति होती है... पर यदि मैं किताबें खरीद नहीं सकती, गरीबी के कारण, ..और रानी बिटिआ से पढ़ने के लिए माँगने की धृष्टता करती हूँ तो सारा घर दहल सा उठता है.. राम ! राम !! क्या चमार के स्पर्श से सरस्वती को अपवित्र करना है... कितनी बड़ी विडम्बना है... कितना हास्यप्रद आडम्बर है.... ”

तभी रानी बिटिआ ने चिल्लाकर कहा, “अरी माला, क्या चींटी की चाल चल रही है स्कूल का घंटा बज गया होगा.. कुछ खबर भी है ?”

“साथ-साथ ही तो चल रही हूँ रानी बिटिआ,” माला ने लपक कर उसके पास आते हुए कहा। उसकी विचार-शृंखला टूट गई थी। दिमाग में एक अजीब उलझन सी थी। उसके उदास चेहरे पर अन्यमनस्कता के भाव स्पष्ट थे। वह चुपचाप सोचना चाहती थी.. सोचते ही रहना चाहती थी। रानी बिटिआ मटक-मटक कर चली जा रही थीं—और माला फिर विचार निमग्न हो गई—

“—कोई मेरी वयस और सामाजिक स्तर देखे तो क्या उसे विश्वास होगा कि मैं इतना ज्यादा सोच सकती हूँ— इतनी गहराई से सोच सकती हूँ—पर परिस्थितियों ने तो मार-मार कर मेरे नन्हें मस्तिष्क को भी प्रौढ़ बना दिया है—समाज की बर्बरता और स्वच्छन्दता हृदय पर इस प्रकार भार बन जाती है कि उन्हें विचारों के रूप में, हृदय से हट कर, इधर-उधर बिखरना ही पड़ता है—नहीं तो हृदय फट न जाये—और मेरे निर्धन, अछूत पिता” —उसकी विचार-धारा दूसरी ओर मुड़ चली :

“—कितने सीधे हैं—कितने नेक हैं—कितने सुलझे और उच्च विचारों वाले हैं कोठी के मालिक से देखने-भालने में सुन्दर और गोरे भी हैं—पर उन्होंने आज तक घर के आँगन में पैर नहीं

रक्खा है—बीस वर्ष हो गये मालिक की नौकरी करते पर उन्हें यह भी नहीं मालूम की कोठी के अन्दर का भाग किस प्रकार का बना है—किस प्रकार से सजा है— पर उनका दोष क्या है—यही न कि एक समर्थ मनुष्य ने दूसरे असमर्थ, असहाय, दुर्बल और निरीह मनुष्य को अस्पृश्यता का जामा पहना दिया है जिससे कि वह उसपर राज्य कर सके—उसका शोषण कर सके—बस इतना ही दोष है न! एक ही हाड़-मांस के बने प्राणियों को—एक ही परमात्मा के बच्चों को उनके स्वार्थ ने विभक्त कर दिया है—समर्थ आसमान पर चढ़ गया है—और गरीब—वह जमीन की मिट्टी चाट रहा है—”

“अरी ओ माला की बच्ची!! आज क्या तेरे पैरों में पारा भर गया है—चीटी की चाल से रेंग रही है—अगर आज स्कूल को देर हो गई तो बस याद रखना—”

सहसा माला की विचार-धारा इधर-उधर हो गई, “माफ करना रानी बिटिआ, मैं तो साथ ही चल रही हूँ—” उसने ही! ही!! करते हुए कहा! और फिर उसने अपने विचारों पर लगाम लगाने की चेष्टा की। स्कूल का फाटक सामने दिखाई दे रहा था और घण्टा टन्। टन्! टन्!! टन्!!! बजे जा रहा था।

“चुड़ैल कहीं की! आज देर करवा ही दी न—अच्छा चल घर लौटकर—ऐसा खबर लूंगी कि जिन्दगी भर याद रखेगी,” उसने गुस्से से लाल-लाल आँखों को माला की सहमी [हुई आँखों में गड़ाते हुए कहा। फाटक चारही कदम रह गया होगा पर अमीरी के मखमल में लिपटे हुए पैर अब भी मटक-मटक कर ही चल रहे थे। माला ने जैसे अपने मन में ही कह लिया,

“पर इसमें मेरा क्या दोष है, रानी बिटिआ! मैं तो साथ ही साथ चली आ रही हूँ”

“पर समर्थ का तो कोई दोष होता नहीं—” रानी बिटिआ की अहंकार भरी आँखें पुकार-पुकार कर कह रहीं थी।

और क्लास में भी वही बात थी—वही भावना थी। रानी बिटिया प्रतिष्ठित वकील की लड़की थी, सवर्ग थीं—फिर भला मास्टरनी उन्हें कैसे डाँट सकती थीं। वे भूखी बाघिन की भाँति माला पर गुरा पड़ीं, “बड़ी सुस्त है तू... गन्दी लड़की... तुझे देख कर तो उल्टी मी आने लगती है... अब अगर कल से देर से आई तो बेंच से खाल खींच लूंगी... समझी ! ... जा पीछे बेंच पर जा कर खड़ी हो जा... चल हट सामने से....”

रानी बिटिया सामने की सीट पर बैठी मानों अपने वर्ण की विजय पर मुस्करा रही थी, और मास्टरनी उन्हें समझा कर कह रही थी, “देर से मत आया करो, रानी बिटिया... देखो अब तुम्हारे लिए मुझे यही पाठ फिर शुरू से पढ़ाना पड़ेगा”

रानी बिटिया जरा सा शर्मा गई। मास्टरनी का गुस्सा एक दम काफूर हो गया।

और पीछे बेंच पर मुंह लटकाये खड़ी माला जैसे गरीबी की पराजय पर मातम मना रही हो... सबसे अलग खड़ी अपनी शिकस्त का डका पीट रही हो।

क्लास में गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाती हुई मास्टरनी छुआ-छूत के धब्बे को विधान के जल से रगड़-रगड़ कर धोने का प्रहसन कर रही थीं। माला आँख फाड़े उनकी ओर एक टक देख रही थी। मास्टरनी समझा रही थीं :

“... जानती हो तुम लोग... आज स्वतंत्र भारत के विधान ने अस्पृश्यता के कलंक को कानूनन मिटा दिया है... अब न कोई अछूत है और न अस्पृश्य... मनुष्य मात्र बराबर है... एक समान है... उनको जीवन के हर क्षेत्र में समान अधिकार मिल गये हैं...”

माला के कानों में उनका फतवा गूँज रहा था पर उसका दिमाग कहीं और ही उड़ गया था। वह सोच रही थी :

“... स्वतंत्र भारत के विधान की दुहाई देने वाली... गला फाड़-

फाड़ कर उसका राग अलापने वाली मास्टरनी जी उसको पीछे सबसे वाली बेंच के कोने पर इसलिए बैठाती है क्योंकि वह अच्छूत है ... निर्धन है ... लडकियाँ उससे दूर इसलिए बैठती है क्योंकि उसकी गरीबी उसके फटे और मैले वस्त्रों से झाका करती है ... क्योंकि वह अपवित्र है ... उसको छू कर उनके धर्म पर ... उनके बड़प्पन पर धब्बा लग जायगा ...

और तभी घण्टा टनटना उठा, और उसका इधर-उधर भटकता हुआ दिमाग फिर उसके पास वापस लौट आया।

घर लौटते समय बड़े ही घिघिआहट भरे स्वर में माला ने धीरे से बुदबुदाया, “रानी बिटिया ! परसो से इम्तहान शुरू हो जायँगे, पर मैंने तो अभी हिन्दी की किताब देखी भी नहीं है ... क्या मुझे एक दिन को पढ़ने को नहीं दे दोगी ?”

“हट कल-मुही कहीं की ! कैमी बात मुह से निकालती है, “उसने माला से अपनी किताबें छीनते हुए कहा, “क्या मैं अपनी किताबें अपवित्र करा लूँगी ... खबरदार जो फिर कभी ऐसी बात कही”

वह किताबें लेकर आगे-आगे लपकी चली जा रही थी। घर समीप आ गया था इस कारण माला की उसे अब कोई आवश्यकता नहीं थी। और पीछे पीछे आती हुई उदास माला सोच रही थी :

‘.... आज ही तो विधान की दुहाई दी थी मास्टरनी जी ने .. और यह है उसका प्रभाव ... पर रानी बिटिया क्या करे ... वह तो समर्थ सागर की एक बूद मात्र है ... सभी तो अभी वैसे ही हैं ... कलुआ मेहतर अब भी मैला ही उठाता है और उसको कोई छूता नहीं ... नन्हे चमार जब जूता टाँकने आता है तो लोग दूर से उसकी ओर अपने जूते फेंक देते हैं ... उसे छूते नहीं ... मेघा पासी अब भी पानी का लोटा हाथ से नहीं छू सकता ... बर्तन अपवित्र हो जाता है पानी जहर हो जाता है ... बरतन को आग डालकर अब भी शुद्ध किया जाता है ... मानूँ भंगी के लिए मन्दिर के द्वार अब भी बन्द है क्योंकि उसे सब पहचानते हैं कि वह भगी है ... भगवान की पत्थर की मूर्ति उसका हाथ लगते ही

चटख जायेगी... चोर बाजारी के धन से पवित्र हाथ, गरीबों के रक्त से रजित सुहावने हाथ भगवान को पसन्द है... पर मानू भगी के नहीं... वह अब भी कुए से पानी नहीं भर सकता है क्योंकि उसका साहस ही नहीं पड़ता .. और पड़े भी, तो क्या धर्म के ठेकेदार उसको जिन्दा छोड़ेंगे'

कुछ ही देर बाद रानी बिटिया के छैल-छबीले भाई ने उसकी कोठरी के समीप आते हुए कहा,

“क्या कर रही हो माला ?” उस समय वह वहाँ अकेली ही थी। उसका कलेजा धक से हो गया। विचार शृखला टूट गई।

“क्या सोच रही हो माला ? मेरी तरफ देखो... मैं तुम्हें प्राणों से भी अधिक चाहता हूँ... तुझसे प्रेम करता हूँ...” उसको चुप देखकर उसने दाँत निपोरते हुए फिर यही बात उससे कही। माला घबरा सी गई पर फिर भी न जाने कैसे उसे मसखरापन सूझा, “तो राजा भैया ! मेरे साथ शादी कर लो न !”

“हिश !! क्या बक रही है” राजा भइया के जंसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो, “कोई सुन लेगा तो मेरी इज्जत क्या रह जायेगी... भला मैं चमार के साथ विवाह कर सकता हूँ... छी !! छी !! छी !!!” और वह खिसिआया हुआ, पर विजय गर्व के साथ, उल्टे पाँव लौट गया। नीच कहीं का, सफेदपोश नर-पिशाच !! वासना की तृप्ति के लिए मेरे शरीर का स्पर्श करने में तेरे शरीर की पवित्रता नष्ट नहीं होगी ... और ऐसे छूत लग जायेगी । वह न जाने कब तक और क्या क्या सोचती रही। फिर सूरज डूब गया। अँधेरा हो गया और रात की कालिमा ने अपने दामन में ढक कर ऊँच-नीच, अमीर-गरीब सब का भेद-भाव थोड़ी देर को मिटा दिया।

दूसरे दिन फिर स्कूल जाते समय, फाटक के बाहर निकलते ही, रानी बिटिया ने किताबे उसके ऊपर लादते हुए जरा धीरे से कहा, “कल से इम्तहान है न, माला ! आज सब लड़कियाँ गुरु जी को गुलाब के फूल ला कर देंगी... यह हर साल का दस्तूर है... गुलाब के फूल गुरु जी

को बहुत पसन्द है... अपने घर तो गुलाब हैं नहीं। बगल के मुंसिफ साहब के बंगले में हैं... तू चुरा लायेगी... चुपचाप... धीरे से?"

माला के घायल हृदय ने गुलाब के फूल में एक सहारा देखा। उसने सोचा ऐसा करने से शायद गुरु जी उससे खुश हो जाये। और तभी उसने उत्तर दिया, "पर मैं भी उनको फूल दूंगी, रानी बिटिआ!!"

"हाँ! हाँ!!" रानी बिटिआ ने अपना मतलब निकालना चाहा, "क्यों नहीं... तुम भी फूल देना... जरूर देना"

इसके बाद रानी बिटिआ साँस रोके मुंसिफ साहब के बाग की चहार-दीवारी के बाहर साहूकार की भाँति खड़ी रहीं और माला चुपके से, चोर की तरह बाग में घुस गई। फूल तोड़ लिए; खूब से; सुन्दर-सुन्दर। कुछ, सबसे अच्छे, छिपा कर अपनी कुर्ती में रख लिए; और साधारण से रानी बिटिआ के लिए लेकर बाहर आ ही रही थी कि माली ने टोक दिया, "चोर कहीं की... बदमाश!! ठहर तो अभी बताता हूँ"

भाग कर फाटक तक आते आते माली ने उसके दो हाथ लगा ही दिए।

"रानी बिटिआ ने मगाये थे यह फूल" उसने रुआंसी डो कर कहा। "झूठी कहीं की" रानी बिटिआ दूर से ही चिल्ला पड़ी। माली ने फूल छीन कर रानी बिटिआ को देते हुए कहा, "तुम आकर ले जाती, रानी बिटिआ! देखी इस चोट्टी की करतूत"

"मैं घर जा कर इसे खूब पिटवाऊँगी" कहकर रानी बिटिआ आगे बढ़ गई। रास्ते में माला ने घिघिआ कर कहा, "थोड़े फूल मुझे भी दे दो, रानी बिटिआ... तुमने कहा था न..."

"हट कलमुट्टी कहीं की... माली के सामने बदनामी करा दी और अब बेशर्मी की तरह खीम निपोर कर फूल माँग रही है" वह गुराई।

माला ने फिर कुछ नहीं कहा। उसकी कुर्ती में उसके फूलों से कहीं अच्छे फूल रक्खे थे। उसे माली की मार का जरा भी गम न था। वह बड़ी प्रसन्न थी कि आज सबसे अच्छे गुलाब के फूल देकर वह गुरु जी का मन प्रसन्न कर देगी। उन्ही फूलों को देख कर उससे इसान की तरह

बोलेगी। उसकी तारीफ करेगी।

और क्लास में जब हर लड़की से गुलाब के फूल ले ले कर मास्टरनी जी खीसे निगोर रही थी तो माला सबसे पीछे की बेंच के एक कोने पर बैठी बैठी सोच रही थी :

“फूल दूँ, या न दूँ ?”

पर उसके फूल सबसे अच्छे थे। सबसे सुन्दर थे। सबसे अधिक सुगंधित थे। उन्होंने उसका साहस बढ़ाया। उसको हिम्मत दिलाई; और वह सकुचाती हुई आगे बढ़ी। रानी बिट्ठिआ ने समझा था कि उसने माला को उल्लू बना दिया; पर उसके हाथों में इतने सुन्दर गुलाब देख कर वह चौंक पड़ी “अच्छा ! ! ! ...” उसके मुँह से हल्की सी चीख निकल पड़ी। माला ने काँपते हुए हाथों से फूलों का गुच्छा गुरु जी की ओर बढ़ाया, पर उनकी मुख-मुद्रा देख कर सहम सी गई ! गुरु जी ने घृणा से उसकी ओर देखते हुए कहा, “हट ! हट ! ! दूर हो यहाँ से ... गद्दी लड़की ! तेरा साहस कैसे पड़ा मेरे पास फूल लाने का ... छी ! छी ! ! चमार कहीं की”

माला के सबसे सुन्दर गुलाब के गुच्छे में शायद मास्टरनी जी को कोयले का ढेर दिखाई दिया।

उसका सारा जोश ठण्डा पड़ गया। अरमान बुझ गये। नन्हे से भावुक हृदय पर जैसे किसी ने हथौड़ा खींच कर मार दिया हो। उसकी आँखों में मोती जैसी आँसू की बूंदें डबडबा आईं। और फिर, पीछे की बेंच के कोने पर बैठी वह सोच रही थी :

‘विधान ... विधान की दुहाई देने वाला समाज अपने को भुलावा दे सकता है ... संसार की आँखों में धूल झाँक सकता है। पर यह परिवर्तन किसी बेजान चीज का नहीं बल्कि मस्तिष्क का है, दृष्टिकोण का है, परम्परा और रूढ़ि का है, इसलिए उसे यह न भूल जाना चाहिए कि समाज के इस कोढ़ को अच्छा होने में एक नहीं, अभी कई सदियाँ लग जायेगी।

चोरी के फूल

एक सौ एक

कैप्टेन बर्मा

आदत से जाना हुआ काहिल हूँ इसलिए यह तो दावा नहीं कर सकता कि जाड़े के दिनों में सुबह-सुबह वायुसेवन के लिए निकलना मेरी रोज की आदत है, फिर भी, रंगबिरंगे फूलों से भरी क्यारियों के बीच आराम से बैठे रहना मेरी इतनी बड़ी कमजोरी है कि बंगले से बिल्कुल लगा ही हुआ रंगीन एल्फ्रेड-पार्क मुझे अक्सर, सूरज निकलने से पहले, रजाई के बाहर खींच ही लेता है। विश्वास मानिए, जनवरी के महीने तक तो सुबह आठ का घंटा मैं बिस्तरे पर पड़े-पड़े ही सुनता हूँ। पर जब जनवरी की तारीखे कैलेण्डर से फाड़ दी जाती है, और फरवरी की भी कमर झुकने लगती हैं तब कहीं फूलों का मोह मुझ पर विजय प्राप्त कर पाता है। और तभी पत्नी और बच्चे को लेकर मैं अक्सर पार्क की ओर निकल जाया करता हूँ।

एक ऐसी ही सुहानी सुबह पार्क में बैठे हम लोग नरम-नरम धूप का आनन्द ले रहे थे। बीच के गोल दायरे में जगह-जगह पड़ी लगभग सभी बेंचे भरी हुई थी। कुछ लोग इधर-उधर टहल रहे थे, और कुछ नौजवान गोल सड़क पर बेलगाम दौड़े ही चले जा रहे थे। उन्हें देखकर सुधा ने मुस्करा कर कहा,

एक सौ दो

रती और धुआँ

“आप भी अगर जाड़े भर इसी तरह दौड़ लेते तो चर्बी थोड़ी बहुत तो छंट ही जाती”

“बात बहुत पते की है, मगर सुधा, तुमने सलाह गलत आदमी को दी” मैंने जरा गभीर मुद्रा बनाते हुए कहा, “जो जीवन में एक्सरसाइज के नाम पर सिर्फ अल्जेब्रा और जामेट्री की एक्सरसाइजेज करने भर का ही गुनहगार है, उस पर भला तुम्हारी बात का क्या असर पड़ सकता है”

इस पर सुधा ठहाका मार कर हस पड़ी और मैंने भी उसका साथ दिया। और तभी मुन्ना साहब अपना जहाज उड़ाते हमारी ओर ही दौड़ कर आते दिखाई दिए। आकर हाँफते हुए बोले, “देखिए पापा जी ! आज मेरा जहाज कितना अच्छा उड़ रहा है” और इतना कह कर जो जहाज उड़ाया तो वह पास वाली बेच पर अकेले ध्यानमग्न बैठ एक भद्र पुरुष के सर से जा कर टकराया। मुन्ना क्षण भर को ठिठक गया; तभी मैंने उसे डाँटते हुए कहा, “देख कर नहीं उड़ाते। चलो वन्द करो अपना जगलीपन का खेल” इतना कह कर मैं उन सज्जन से क्षमा माँगने के लिए बड़ा ही था कि देखा जहाज लेकर वे हमारी ओर ही बढ़े चले आ रहे हैं। पास आ कर हँसते हुए बोले, “अरे साहब ! क्यों डाँट रहे हैं बेचारे को। खेलने दीजिए न। बच्चे तो ऐसे खेलते ही हैं” और फिर मुन्ना के हाथ में जहाज पकड़ाते हुए कहा, “लो बेटा ! उड़ाओ तो इसको। देखे तुम कितना अच्छा उड़ा सकते हो”

उनकी स्नेहभरी बातें सुन कर मुन्ना फिर अपनी उछल-कूद में व्यस्त हो गया, और वे सज्जन मेरी ओर घूम कर बोले,

“बड़ा होनहार लडका निकलेगा”

“हाँ ! अभी तो बहुत तेज है। आगे देखिए कैसा निकलता है” मैंने धीरे से कहा।

“आगे देखिए की बात नहीं। मैं झूठ कभी नहीं बोलता। मेरी बात कहीं नोट करके रख लीजिए। मेरा महेन्द्र भी बचपन में ऐसा ही नटखट और तेज था; और मजे की बात तो यह है कि उसे भी हवाई जहाज तथा

चाभी के दूसरे खिलौनों का बहुत शौक था। वस, उसका रुझान देख कर मैंने उसे वैसी ही शिक्षा दी जिसके कारण आज वह देश का एक नामी इंजीनियर बन सका है। आपने तो उसका नाम अखबारों में अवश्य ही पढ़ा होगा। पर खैर, जाने दीजिए, ज्यादा क्या बताऊँ। इधर कई वर्षों से तो बिचारा इंग्लैंड में ही है ! ज्यादा बुद्धिमान होना भी एक मुसीबत ही है”

“जी हाँ ! यह ठीक ही है। बच्चों का भविष्य बनाने के लिए माता-पिता की तो बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती ही है”

“अरे साहब ! उसकी माता की क्या कहूँ। वह तो साक्षात् देवी हैं, देवी। आपसे बताता हूँ; राजा की लड़की होते हुए भी तबियत में इतनी सादगी है कि आप देखें तो ताज्जुब फरेगे। पर खैर, जाने दीजिए। झूठ तो मैं बोलता नहीं इस लिए जो कुछ बताऊँगा सच ही बताऊँगा, और आप शायद समझें कि मैं डींग हाँक रहा हूँ”

“अरे वाह ! आप कैसी बात कह रहे हैं” मैंने वस्तुतः उनकी बातों से प्रभावित होते हुए कहा, “आप बजुर्ग हैं। भला मैं कभी ऐसा सोच सकता हूँ” फिर जरा रुक कर पूछा, “क्या मैं आप का शुभ नाम...”

वाक्य पूरा होने से पहले ही वे जोर से हँस पड़े और बोले, “भई वाह ! यह भी खूब रहा। इतनी बातें हो गई और अभी हम लोगों का परिचय ही नहीं हुआ। मैं हूँ कैप्टेन वर्मा... राजेन्द्र वर्मा। अवकाश ग्रहण करने के बाद अब यही रहता हूँ।... और आप ?”

“जी, मुझे राजीव लोचन कहते हैं। यहाँ सी० डी० कालेज में प्रिंसिपल हूँ”

“आप से परिचय प्राप्त करके वास्तव में बहुत प्रसन्नता हुई, प्रिंसिपल साहब। देखिए कैसा संयोग रहा। क्या आप कहीं पास ही रहते हैं ?”

“बिल्कुल पास” पार्क के बाहर वाली सड़क की ओर इशारा करते हुए मैंने कहा, “वह जो तृतीया रंग का बगला दिखाई दे रहा है, वही रहता हूँ। आइए, चलिये न। चाय पीकर चले जाइयेगा”

“धन्यवाद, धन्यवाद” कैप्टेन साहब ने खीसों निपोरते हुए कहा, “आज तो नहीं। फिर किसी दिन आऊंगा। आज तो मैंने स्वयम् एक सज्जन को चाय पर निमन्त्रित कर रखा है। आप तो उन्हें जानते ही होंगे। जो डिप्टी मिनिस्टर आजकल नगर में आये हुए हैं न, वे ही चाय पीने आवेंगे। क्या कहें। पुरानी जान पहिचान है। कल मुलाकात हुई तो जिद करने लगे कि तुम्हारे यहाँ चाय जरूर पीनी है। लाचार हो कर बुलाना ही पड़ा”

इतना कह कर उन्होंने मुन्ना को प्यार किया, और अपनी छड़ी घुमाते हुए चल दिये।

लौटते समय सुधा ने धीरे से कहा, “मुझे तो आदमी कुछ विचित्र सा लगा”

“क्यों?” मैंने आश्चर्य भरे स्वर में पूछा।

“यों ही। अपना अपना इम्प्रेशन है। कपड़े लत्तों से तो इतना बड़ा फौजी अफसर कभी भी नहीं लगता था”

“तुम्हारी बातें भी कभी कभी बड़ी अजीब होती हैं” मैंने जरा खीझ कर कहा, “इसमें बुरा इम्प्रेशन पड़ने की क्या बात है। बुजुर्ग आदमी हैं, और फिर रिटायर्ड। यह तो कहती नहीं कि इतने बड़े होते हुए भी व्यवहार और वेशभूषा में कितनी सादगी थी। मैं तो कहता हूँ बड़ी पहुँच का आदमी मालूम पड़ता है। कभी न कभी जरूर काम आ सकता है। परहाँ! तुम्हारा कहना भी ठीक ही है, क्योंकि तुम्हें तो मेरे अतिरिक्त कोई आदमी अच्छा लगता ही नहीं”

इस पर सुधा शर्मा गई, और मैं जोर से हस पड़ा।

लगभग सात-आठ दिन के बाद, संध्या समय, कप्तान साहब मेरे यहाँ आये। कमरे में प्रवेश करते ही बड़े तपाक से हाथ मिलाते हुए बोले, “कई दिनों से सोच रहा था, पर आज किसी तरह जान छुड़ा कर आ पाया हूँ”

“बड़ी कृपा है आप की” मैंने नम्रता से कहा।

“अरे भाई ! इसमे कृपा की क्या बात है। मुझे तो उसी दिन से आप से इतना स्नेह हो गया है कि रोज ही आने की सोचता था; पर फुर्सत मिले तब तो। जिस दिन पार्क में आपसे भेट हुई थी उसी दिन शाम को दिल्ली जाना पड़ गया। एक मिनिस्टर महोदय का तार आ गया। उन्हें कुछ आवश्यक परामर्श करना था। क्या करता। दोस्ती का मामला था। जाना ही पड़ा। मैं झूठ तो बोलता ही नहीं, प्रिंसिपल साहब ! अगर चाहूँ तो आज मिनिस्टर या गवर्नर बन सकता हूँ। पर अपने को अब इन चीजों से कोई लौ-लगाव नहीं। ढलती उम्र है। नाते रिश्ते ही निभते चलें यही बहुत समझिये”

“हाँ, अब तो आपको आराम की ही अधिक आवश्यकता है” मैंने धीरे से कहा।

“पर मेरे भाग्य में तो लगता है आराम लिखा ही नहीं है। दिल्ली से जल्दी लौटना मुश्किल हो गया। आज यहाँ मीटिंग है तो कल वहाँ दावत। मैं तो बिल्कुल परेशान हो गया। आज ही देखिये। जज साहब के यहाँ रात के खाने का निमन्त्रण था। मैंने श्रीमती जी को तो भेज दिया, पर स्वयम् तबियत भारी होने का बहाना बना दिया”

“हाँ साहब ! जो जितना मिलनसार होता है, उसे उतना ही अधिक इन झंझटों में पड़ना पड़ता है। मुझे तो आश्चर्य है कि इस उम्र में आप इतना निभा कैसे लेते हैं”

इस प्रकार बातें करते करते काफी देर हो गई। खाने का समय हो गया था इसलिए मैंने आग्रह किया कि वे मेरे साथ ही भोजन कर ले। काफी आनाकानी के बाद उन्होंने मेरा निमन्त्रण स्वीकार करते हुए कहा, “जब आपकी इतनी इच्छा है तो यही सही। यूँ भी घर पर आज मुझे अकेले ही खाना पड़ता। पर आप की बदौलत दावतों का क्रम आखिर आज भी पूरा ही हो गया। श्रीमती जी जज साहब के यहाँ दावत खाने गई होंगी। मैं आपके घर खा ही रहा हूँ। और घर पर सब नौकर लोग दावत उड़ायेंगे”

एक सौ छः

धरती और धुआँ

“अरे, वाह कप्तान साहब ! मेरे यहाँ काहे की दावत। यह तो आप की महानता है जो आप मेरे रूखे-सूखे भोजन के लिए ऐसे कह रहे हैं”

खाना समाप्त होते होते लगभग साढ़े नौ बज गए थे। इसलिए कप्तान साहब ने उठते हुए कहा, “इस समय रोज से कुछ ज्यादा ठंडक है। मैंने ब्रेक्फ़ी की जो अपना ओवरकोट साथ नहीं लेता आया”

“तो इसमें क्या बात है। मेरी पश्मीने की चादर लिए जाइये। बाद में आ जायेगी” चादर उनकी ओर बढ़ाते हुए मैंने आग्रह किया। इसके बाद सवारी मगवान के लिए पूछा, तो मना करते हुए बोले,

“नहीं, नहीं ! उसके लिए कष्ट न कीजिए। भोजन करने के बाद थोड़ा टहलने की आदत तो सिविल-सर्जन साहब के साथ रह रह कर पड़ ही गई है। कुछ दूर निकल कर सवारी ले लूँगा”

“लेकिन अंधेरा काफी है। जरा रुकिये मैं टाचें ले आऊँ तो आपको सुविधा हो जायेगी” उन्हें रोकते हुए मैंने टाचें लाकर दी तो बड़े मकोच भरे स्वर में बोले, “मैं दोनों चीजे कल ही नौकर के हाथ भिजवा दूँगा, या फिर टहलने आऊँगा तो खुद ही लेता आऊँगा”

“अरे वाह ! इतनी जल्दी की क्या बात है। जब सुविधा हो भिजवा दीजिएगा”

और फिर धन्यवाद देते हुए वे विदा हुए। इसके बाद दस-पन्द्रह दिन तक वे फिर दिखाई न दिये। मुझे कुछ चिन्ता सी होने लगी कि आखिर उन्हें हो क्या गया। कहीं पूछताछ भी नहीं कर सकता था क्योंकि की उनके घर का तो पता ही नहीं मालूम था। कुछ शक्ति मन से सुधा से चर्चा की तो वह उल्टे मेरे ही ऊपर झुझला पड़ी, “आपसे मैंने पहले ही दिन कहा था कि मुझे तो आदमी कुछ अजीब सा लगता है, पर आप सुने तब तो। पता ठिकाना तो कुछ पूछा नहीं और उठाकर इतना कीमती पश्मीने का शाल दे दिया। अब मैं क्या बताऊँ !”

“तुम तो हर आदमी को शका की ही दृष्टि से देखती हो। बेचारे

बीमार पड़ गये होंगे, या कहीं बाहर चले गए होंगे। जानती तो हो कितने व्यस्त आदमी है” मैंने जरा झुझला कर कहा और उठकर बाहर के कमरे में चला आया। तभी बरामदे में उनकी आवाज सुनाई दी,

“प्रिंसिपल साहब! घर में है या नहीं?”

मैं लपक कर बाहर निकल आया और तपाक से स्वागत करते हुए बोला, “बड़ी उम्र है आपकी, कन्तान साहब! अभी आप ही की चर्चा चल रही थी। इतने दिनों से दर्शन न होने से मुझे शंका होने लगी थी कि कहीं आप बीमार तो नहीं पड़ गए;”

“अरे नहीं, बीमार पड़ने की मुझे कहीं फुर्सत है। लेकिन पहले यह बताइये कि कल आप खाने पर क्यों नहीं आये?”

“खाने पर! कहां?” मैंने चौककर पूछा।

“लीजिए साहब! यह एक ही रही। अरे, मेरे घर। और कहां”

“मुझे तो इसकी कोई भी सूचना नहीं मिली”

“वाह! मैंने तो परसों ही निमंत्रण भेजा था। बड़ा ताज्जुब है आपको नहीं मिला। अडतालीस नम्बर ही है न आपके बगले का?”

“जी नहीं” मैंने हस कर कहा, “चोरासी है! शायद नम्बर की भूल के कारण ही आपका निमंत्रण मुझे नहीं मिल पाया”। “हो सकता है, यही बात हुई हो। मगर साहब मैं तो पोस्ट आफिस वालों से परेशान हूँ। आखिर चिट्ठी पर आपका नाम तो था ही। मेरे पत्र तो केवल —कैप्टेन राजेन्द्र वर्मा, इलाहाबाद—के पते से पहुँच जाते हैं। मैं इसकी शिकायत पोस्टमास्टर-जनरल से करूँगा। वे मेरे बहुत गहरे दोस्त हैं”

“अरे साहब! आपकी बात दूसरी है” मैंने खीसें निपोरते हुए कहा।

“दावत में आपकी कमी बहुत अखरी” मोफं पर बैठते हुए उन्होंने कहा, “गवर्नर साहब के सम्मान में मैंने वह दावत दी थी। नगर के लगभग सभी प्रमुख व्यक्ति आये थे। मेरे ख्याल से सौ से कम तो लोग क्या रहे होंगे। मैं तो मिसेज वर्मा की तारीफ करूँगा। उसी दिन सुबह

लखनऊ से एक महिला-सम्मेलन में भाग लेकर लौटी थी, पर दिन भर में आनन-फानन सारा प्रबन्ध कर लिया। गवर्नर साहब तो इतने प्रसन्न थे कि पार्टी में बराबर उन्हीं से बातें करते रहे। पर, सच मानिये, उन्हें आपकी पत्नी के न पहुँचने का बड़ा दुख रहा। कह रही थीं कि एक दिन खुद चल कर मैं इसकी शिकायत करूँगी”

“आप तो लज्जित कर रहे हैं, कैप्टेन साहब ! हम लोग स्वयं किसी दिन उनसे मिलने आयेगे... लेकिन आपके बगले का नम्बर क्या है, यह तो मुझे अभी तक मालूम ही नहीं”

“नम्बर तो, ‘बीस’ बटा ए’ कानपुर रोड है। पर शायद आपको मिलने में मुश्किल पड़े इसलिए मैं किसी दिन गाड़ी लेकर आऊँगा तो आप लोगो को ले चलोंगा” और फिर उठते हुए बोले, “ओफ़” ! आपका दुशाला और टार्च तो भूल ही आया। कल जरूर भिजवा दूँगा। क्या बताऊँ। याद ही नहीं रहती”

इसके बाद लगभग दो सप्ताह तक उनकी फिर कोई खोज-खबर न मिली। मैंने एक बार उनका बगला ढूँढने का भी प्रयत्न किया, पर असफल ही रहा। इधर सुधा दुशाले और टार्च के लिए कान खाये थी। झुझला कर मैंने एक दिन उसको साथ लेकर उनके यहाँ जाना निश्चित किया। बीच में सिविल-लाइन्स में कुछ काम था। इसलिए उधर से ही निकला। काम समाप्त करके हम कानपुर रोड की ओर जाने ही वाले थे कि एक मित्र की दुकान के सामने कुछ हुल्लड़ और भीड़भाड़ देख कर मैंने रिक्शा रुकवाते हुए सुधा से कहा, “अभी देख कर आता हूँ। न जाने क्या गोलमाल हो गया है”

वहाँ पहुँच कर पता चला कि कोई जेन्टिलमैन दुकान से सोने की ‘टार्ड-पिन’ चुरा कर भागे जा रहे थे। चोर को देखने की उत्सुकता के कारण चार कदम आगे बढ़ा तो देखा कि दो सिपाही उसको पकड़े पुलिस-वैन की ओर ले जा रहे थे। मैं हतबुद्धि सा मुह बाये खड़ा रह गया। वह जेन्टिलमैन और कोई नहीं कैप्टेन वर्मा ही थे।

धरती और धुआँ

शाम का झुटपुटा होते-होते मुखिया की चौपाल में अच्छी खामी भीड़ ! ो जाती थी। दिन-भर की मेहनत से चकनाचूर श्रमजीवी थोड़ा सा आराम, थोड़ी सी शान्ति चाहते थे और वह मिलती थी मुखिया की चौपाल में, जो सारे गाँव के आमोद-प्रमोद का केन्द्र सा बन गया था। धरती से लेकर आसमान तक की बातें होतीं। खास-खास लोगों पर टीका-टिप्पणी की जाती, ढोल-मजीरा बजता, गीत गाये जाते-बस, यही उनका मनोरंजन था। तम्बाकू के धुये के साथ उनकी थकान उड़ जाती। ढोलक का शब्द उनमें नयी जान डाल देता और वे दिन भर के परिश्रम की थकान भूल जाते।

उस दिन, बहुत दिनों के बाद, फकीरा शहर की मिल से घर वापस आया था। चौपाल में उसकी अधिक चर्चा हुई। लोग उससे तरह-तरह के प्रश्न पूछते और मिल के विषय में बातें करते। उसकी हुलिया ही बदल गई थी। महीन धोती, चमकदार रेशम का कुर्ता, चमचमाता हुआ जूता, और महकदार तेल में सने हुए लम्बे-लम्बे अंगरेजी-कट के बाल। जल्दी पहचानने में न आता था। पर पैंनी निगाहों ने देख लिया था कि उसका हड्डा-कट्टा शरीर लट गया था। उसके गाल और

आँखों में गड़ढ़े पड़ गये थे।

पर, कोने में बैठा हुआ ठाकुर तो जैसे बुत्त सा हो गया। उसे फकीरा एक बहुत बड़ा आदमी लग रहा था। उसके लिवास ने उसे चकाचौंध कर दिया था। वह सोच रहा था... 'अभी साल भर भी नहीं हुआ और यह इतना बदल गया है। कितना अमीर हो गया है... और अब कहता है अपनी जोरू को भी साथ ले जायगा... वहाँ औरते भी काम करती हैं। दोनों मिल कर कितना रुपया जमा कर लेंगे... और हम यहाँ इतनी मेहनत पर भी रूखो दाल-रोटी ही पाते हैं... हम भी क्यों न शहर चले... कहता तो है कि काम जरूर दिलवा देगा...'

एकाएक उसका ध्यान टूट गया। लोग उठने लगे थे। काफी रात बीत गई थी।

रास्ते भर उसे चैन न पड़ा। घर पर दुलहिन पड़ी सो रही थी। उससे न रहा गया तो जगा ही दिया,

“सुनती हो दुलहिन ! फकीरा कल ही मिल वापस जा रहा है और अबकी रनिया को भी ले जाएगा। वहाँ औरतों को भी काम मिलता है। देखा नहीं, वह कितना अमीर हो गया है, और फिर, जब रनिया भी काम करेगी तब तो कहना ही क्या ! हम तुम भी क्यों न चलें ? बोलो, चलोगी ? सबेरे ही चलना होगा।”

“मैं तुमसे बाहर थोड़े ही हूँ। तुमने सोच लिया तो ठीक ही है। जैसे यहाँ काम करते हैं, वैसे वहाँ भी करेंगे।”

“तो चलोगी, दुलहिन।” ठाकुर खुशी से नाच उठा।

दूसरे दिन वे दोनों भी फकीरा के साथ हो लिये। रेल का सफर था। ठाकुर बहुत प्रसन्न था। और फिर कोई बड़ा शहर उसने अभी तक देखा न था। बस बातें ही सुनीं थीं। अतः पक्की सड़कें तरह-तरह की सवारियाँ, ऊँची-ऊँची इमारतें, बिजली की रोशनी, बड़ी-बड़ी सजी हुई दुकानें देखकर वह भौचक्का सा रह गया। सोचने लगा कि क्या स्वर्ग इससे अच्छा होगा ? राधा भी चकित थी। उसे लगता था

धरती और धुआँ

एक सौ ग्यारह

जैसे स्वप्न-लोक में आ गई हो। पर एक चीज से उसे डर लग रहा था। वह थी लोगों की शरारत भरी निगाहे, उनके इशारे।

काम की कमी तो थी नहीं। बस, कहने की देर थी। ठाकुर और राधा, दोनों को काम मिल गया। एक गन्दी कोठरी, जिसे फकीरा “क्वार्टर” कहता था उन्हें दे दी गई, और उन्होंने काम शुरू कर दिया। दोनों के अलग-अलग काम थे और अलग-अलग तलब। दिन भर की जी तोड़ मेहनत से सिथिल ठाकुर जब कोठरी में लौटता, तो दुलहिन को देखकर उसका जी हरा हो जाता। दोनों तरह-तरह की कल्पना करते, भविष्य के सुनहले स्वप्न देखते।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। इसी के साथ-साथ ठाकुर और राधा को अपने भविष्य के सुनहले दिन धुंधले और दूर हटते हुए दिखाई देने लगे। जो वस्तु दूर से इतनी सुहावनी लगती थी, वही समीप से देखने से खोखली और भयावनी सी लगने लगी। ठाकुर का भरा हुआ कसरती शरीर लटने लगा। अब उसमें पहले की सी स्फूर्ति और हसोड़ापन न रह गया। इसके विपरीत वह चिड़चिड़ा और सुस्त सा रहने लगा। जिस तलब को जोड़ कर वह अमीर होने का स्वप्न देख रहा था, वही अब खाने भर को भी पूरी नहीं पड़ती थी। वह कभी-कभी निराश हो जाता, पर फिर भी आशा उसको आगे बढ़ाती ही रहती।

एक दिन राधा ने कहा, “सुनते हो जी, ऐसे जान देकर काम करने से क्या फायदा। थोड़ी छुट्टी क्यों नहीं ले लेते? जरा अपनी सूरत तो देखो, मरीजों जैसी हो गई है! जान है तो जहान....” कहते-कहते वह रुआंसी सी हो गई।

“अरे, बड़ी पगली है दुलहिन! यह तो ज्यादा काम से कमजोरी आ गई है। इसमें घबराने की क्या बात है!”

फिर दोनों काम करते गये। पर राधा को वहाँ के वातावरण से घृणा हो गई थी। उसका जी घबराता था। दम-सा घुटता था। पर

एक सी बारह

धरती और धुआँ

ठाकुर की लगन देखकर उसका जी भर आया। उसको कितना मानता है ! उसके लिये कितनी मेहनत करता है ! इससे उसे हतोत्साह करने को उसका जी न चाहता।

मजदूरनियो का एक जमादार था.. रघू। बड़ा ही छेल-छत्रीला था। वृट्नों से जरा नीची धोती पहनता, लम्बा कुरता और बड़ा सा साफा। उसका शरीर भारी था और कद ऊँचा। बड़ो-बड़ो नुकीली नूँछे थीं। बड़े रौब से, लाठी लिये वह औरतों के बीच में घूमा करता।

कुछ से वह बहुत हंस-हस कर बोलता और कुछ पर बहुत गुराँता। राधा पर उसकी निगाह थी। एक दिन जब वह बोझ लेकर जा रही थी तो पास आकर खड़ा हो गया,

“क्या नाम है तुम्हारा ?” उसने अजीब तरह से मुस्करा कर पूछा।

राधा सहम गई। उसके माथे पर पसीने की बूँदे उभर आईं।

“राधा....।” उसने सिर झुकाये हुए धीरे से घबरा कर कहा। “अहा ! कितना मीठा नाम है” उसने हस कर कहा, “तुम ज्यादा मेहनत न किया करो, समझी। थक जाया करो तो मेरा क्वावर बगल ही में है, जाकर आराम कर लिया करो।” कह कर वह फिर मुस्कराया और दूसरी ओर चल दिया।

वह हटा तो जैसे राधा की जान में जान आई। माथे का पसीना पोंछ कर किसी प्रकार काम में लग गई।

अब तो रोज ही रघू राधा को घेरता। अजीब-अजीब तरह की बातें कहता। तरह-तरह के इशारे करता, पर वह चुपचाप काम करती रहती। कभी-कभी खीज कर, वह उस पर सख्ती भी करता, गालियाँ देता, पर राधा जैसे उन्हें सुनती ही नहीं थी। उसने ठाकुर को अपनी बातें बता कर दुखी नहीं करना चाहा। वह उसे हतोत्साह नहीं करना चाहती थी। और, इसलिए, दिन पर दिन वह ग्लानि से घुलती गई।

ठाकुर, अब धीरे-धीरे बदलने सा लगा था। अब वह, कभी-कभी रात-रात भर गायब रहता और राधा के पूछने पर तरह-तरह की

धरती और धुआँ

एक साँ तेरह

तार्ते बनाता। वह दारू पीने लगा था। फकीरे, रघू का दोस्त था और उसी के द्वारा रघू ने, राधा के लिये, ठाकुर से भी दोस्ती बढ़ाई। दोनों दारू पीते थे और उसी में ठाकुर भी शामिल हो गया। रनियाँ ने फकीरे ने कुछ दिनों के लिये घर भेज दिया था। बस, उसी के क्वार्टर में सब पिये पड़े रहते।

एक दिन, काम समाप्त होने पर ठाकुर फकीरे के यहाँ बैठा धक्का पानी कर रहा था कि रघू भी आ पहुँचा। खूब बातचीत होती रही। थोड़ी रात बीतने पर रघू ने फकीरे को इशारा किया। फिर गया था। दारू के दौर चलने लगे। रघू और फकीरे ने हाथ लेकर पी, पर ठाकुर को जी भर पिलाई। आधी रात होते तक ठाकुर शो में धुत हो गया, और रघू फकीरे से कुछ कह कर बाहर चला गया।

राधा रात तक बैठी-बैठी ऊब गई पर ठाकुर को उसकी क्या चिन्ता। वह दरवाजा बन्द करके लेटी ही थी कि किसी ने धीरे से दस्तक दी। ... ठाकुर तो उसे 'दुलहिन' पुकारता है पर आज 'राधा' कौन पुकार रहा है... सोचकर उसका माथा ठनका। ध्यान से सुनने पर वह सहम गई। दरार से झाक कर देखा.. रघू खड़ा दरवाजा ढटखटा रहा है। उसका जी घबरा रहा था पर उसने साहस न छोड़ा। पीछे की खिड़की खोल कर चुपचाप निकल गई। बाहर आ कर कहीं उसकी जान में जान आई।

पिछवाड़े से कुछ दूर तक तो वह धीरे-धीरे चली, फिर बेतहाशा गागी। उसका कलेजा जोर-जोर से धड़क रहा था। पैर काँप रहे थे। शरीर पसीने से तर था।

फकीरे के दरवाजे पर पहुँच कर कहीं उसने साँस ली। धक्का देते ही द्वार खुल गया। वह फूट फूटकर रो पड़ी। फकीरे डर गया। ठाकुर का नशा सहसा हिरन हो गया। वह चुपचाप राधा के पीछे हो लिया; कुछ बोला नहीं। उसकी मुख-मुद्रा ऐसी थी जैसे कोई चोर

रगे हाथों पकड़ लिया गया हो। सहमा हुआ फकीरे कुछ पूछने का साहस न कर सका।

अपने क्वार्टर में पहुँचते ही राधा के धैर्य का बाँध टूट गया। वह फूटफूट कर रोने लगी। ठाकुर घबरा गया। उसे अत्यन्त ग्लानि हो रही थी।

“दुलहिन, मुझे माफ कर दो” ठाकुर ने सहमे हुए स्वर में कहा। राधा की सिसकियाँ न रुकੀं। उसने रोते-रोते ठाकुर की गोद में सर रख दिया और शुरू से आखीर तक सारी बातें कह डालीं। सुनते-सुनते वह बौखला गया। उसका चेहरा लज्जा और क्रोध से तमतमा उठा। पर राधा ने समझाया।

“उस गुंडे से लड़कर क्या करोगे। घर चले चलो। अब मेरा जी यहाँ नहीं लगता।”

बात ठाकुर की समझ में आ गई, “ठीक कहती हो दुलहिन, हम तुम अब इस नरक में एक क्षण भी नहीं रह सकते” कहकर उसने राधा के आँसू पोछ डाले।

अभी मुर्गे भी न बोले थे कि उन दोनों ने मिल का हाता छोड़ दिया। गाँव में वापस आकर ठाकुर को उस नरक का अंदाज मिला। पश्चात्ताप करते हुए उसने ठड़ी साँस ली और कहा, “दुलहिन मुझसे बड़ी भूल हुई, मैंने तुम्हें बड़ा दुख दिया।—

“छिः क्या कहते हो।” राधा ने अपने हाथ से उसका मुँह बन्द कर दिया और उसका वाक्य अवूरा ही रह गया। उसने हंसते हुए कहा, “अब हम लोग फिर सुखी हो जायेंगे, अपने गाँव में जो वापस आ गये हैं।”

शाम को मुखिया की चौपाल में ठाकुर भी गया। लोगों ने बहुत से प्रश्न किये, तरह-तरह की बातें पूछीं।

“बहुत लट गये हो, ठाकुर, कितनी रकम बना लाय ?” मुखिया ने हस कर पूछा।

ठाकुर ने उत्तर में गंभीर होकर कहा, “रकम तो हाथ का मेल

है, चौधरी ! अपनी दुलहिन की आबरू और अपना तन बचा कर लाया हूँ। बस यही मेरी मिल की कमाई है।”

कोई कुछ न समझ सका। सब मुंह बाये ठाकुर की ओर देखते रह गए।

—

प्रेम प्रेस, कटरा प्रयाग।

